संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ६१

[आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एवं गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के सम्पूर्ण जीवनवृत्त पर आधारित चम्पू महाकाव्य का हिन्दी अनुवाद]

अनासक्त महायोगी

लेखक

मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

अनासक्त महायोगी

लेखक : मुनि प्रणम्यसागर

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में

छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानंदि स्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं

श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का सम्पूर्ण व्यक्तित्व लिखा गया तो उसके साथ ही उनके गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का व्यक्तित्व भी इस कृति में समाहित हुआ है। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का न केवल व्यक्तित्व किन्तु उनकी चेतन-अचेतन कर्तृत्व का भी इसमें समावेश है। मुनिश्री ने अभी तक हुई समस्त क्षुल्लक, ऐलक, मुनि, आर्यिका दीक्षाओं का वर्णन छन्दोबद्ध रीति से क्रम से किया है। इसके साथ ही आचार्य गुरुदेव की अनेक विशेषताएँ जो उनके व्यक्तित्व में समायी हैं। जैसे सहनशील, स्वावलम्बी, महाप्रभावक, अखण्ड ब्रह्मचारी, दृढ़ संयमी इत्यादि अनेक गुणों का वर्णन 'गुणगण नायक' ग्यारहवें सर्ग में विस्तार से किया है। आचार्यश्री के कर्तृत्व में उनके करकमलों से हुए अभी तक के सभी पंचकल्याणकों का वर्णन, दीक्षित शिष्यों का वर्णन, वर्षायोग का वर्णन महाप्रभावक १२ वें सर्ग में किया गया है।

संयम स्वर्ण महोत्सव के पावन प्रसंग पर यह अनासक्त महायोगी कृति प्रकाशित करते हुए जैन विद्यापीठ हर्ष का अनुभव कर रहा है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

अनुक्रमणिका

ॐ

प्रथम सर्ग

बीज भूमि

मंगलाचरण

जो निःशंकित आदि गुणरूपी जल के बल से पुष्ट हुए हैं, जो क्षायिक/निर्मल सुख आदि फलों से युक्त हैं। जो शुद्ध बल, शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान आदि भावों से जीवित रहते हैं, वह सिद्धरूपी कल्पवृक्ष उत्कृष्ट सिद्धि को देवें।

ध्यानरूपी अग्नि से घातिकर्मों को विवेकी पुरुष ने जलाया है, वही अर्हत्, जिन अथवा हरि नाम वाले हैं। इस प्रकार आपको स्मरण करते हुए, मनुष्य आत्म-धर्म की सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। जो रत्नत्रयरूपी आत्म-धर्म का एकत्व भाव से आचरण करते हैं तथा अन्यों को आचरण कराते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी इस लोक का उपकार करने के लिए निश्चित ही भव्यात्मा शिष्यों का पालन करते हैं।

इस कलिकाल में प्रवर्तमान स्व-पर शास्त्रों को तथा जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को, जो जानते हैं, जो रत्नत्रय की प्रतिमूर्ति हैं तथा सभी को इष्ट हैं। उन उपाध्याय परमेष्ठी की वह देशना सदा वृद्धिंगत रहे। जो संसार, शरीर से भयभीत हैं, जिनका भय नष्ट हो चुका है, जो लोभ से रहित हैं, शमी हैं, इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं तथा साधु सम्बन्धी सभी कृति कर्मों को करते हैं, ज्ञानी हैं, प्रकृष्ट दानी हैं, मान रहित हैं, अपनी आत्मा से

सम्बन्ध रखने वाले हैं, श्रमण हैं, वह मुनि सदा मेरी रक्षा करें।

सन्मति-महावीर जिनेन्द्र तीर्थंकर, श्रुत की रचना करने वाले गुरु गौतम गणी, जिनेन्द्र भगवान् के वचन, जिनचैत्य, जिनालय यह सभी इस संसार में परम मंगल करने वाले हैं, मैं इन सभी को नमन करता हूँ। इस संसार में निर्मल पंचपरमेष्ठी का मंगल समस्त विघ्नों का विनाश करने वाला माना गया है। मोक्ष का कारक, सुख देने वाला, समता का आलय, सुख उत्पन्न करने वाले, इस मंगल को भव्य पुरुषो अवश्य करो। सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए जिनेन्द्र भगवान् के मनोहर बिम्ब, सम्यग्ज्ञान की रक्षा के लिए वसति में सिद्धान्त-शास्त्र और चारित्र की रक्षा के लिए विचित्र तपश्चरण करने वाले मुनि, यह तीनों ही धर्म के अवयव स्वरूप जहाँ रहते हैं, वह दक्षिणापथ जयवन्त रहे। कर्म-भूमिपर्यन्त तप की तुलना में अग्रणी कोई भी नहीं हुआ है, इस प्रकार अपने उत्सेध से कहती हुई, दक्षिण दिशा में भगवान् बाहुबली की मूर्ति है, वह सदा जयवन्त रहे।

उसी दक्षिण में आचार्यों में प्रमुख महान् मुनि श्रेष्ठ बुद्धिमान् शान्तिसागरजी हुए हैं। उन्हीं के शिष्य इस पृथ्वी पर आचार्य वीरसागरजी, उनके शिष्य आचार्य शिवसागरजी और उनके शिष्य आचार्य ज्ञानसागर जी और उनके पट्ट शिष्य, विशाल संघ को धारण करने वाले आचार्य विद्यासागरजी मुनिश्रेष्ठ हुए हैं। उन 'अनासक्त महायोगी' के चरित्र को कहने में, इस धरती पर कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं है। फिर भी उनके श्रेष्ठ गुणों में अनुराग के कारण, भक्ति से अपने आचरण की शुद्धि के लिए उनके प्रकृष्ट गुणों का गान यथाबुद्धि करता हूँ। अपने भक्त के लिए इष्ट सिद्धि कौन महापुरुष नहीं देता है? अर्थात् सभी देते हैं।

पुण्य योग से जिनका प्रभावशाली जन्म स्वतन्त्रता के लाभ के लिए और कुतन्त्र की हानि के लिए हुआ है। सच तो है सूर्य के उदय होने के पश्चात् क्या अन्धकार का नाश अपने आप नहीं हो जाता है? अर्थात् हो जाता है। मोहरूपी महा काले पटलों से आच्छादित आत्मा के लिए भानु के समान तथा घातिकर्म रूपी पर्वतों के समूहों को गिराने के लिए वज्राघात के समान आपको नमस्कार हो। कलिकाल में उत्पन्न हुए

शैथिल्य रूपी रात्रि में चलने वाले कीड़ों को जो इस धरती पर भानु की तरह दूर ही फेंक देते हैं। सम्यक्त्व रूपी दृढ़ तलवार से कुलिंगियों के कुशासन को छेदकर जिन्होंने मुक्ति के लिये साधनभूत जिनशासन की सुरक्षा की है।

सिद्धान्त, अध्यात्म, साहित्य, न्याय, शब्दानुशासन (व्याकरण) इनको एक पात्र में (आत्मा में) उत्पन्न हुआ देखकर विद्वान् लोग विस्मयता को प्राप्त हुए हैं। जिनके चारित्र की चर्चा में विद्यानन्दि आचार्य और अनेक साधु प्रसन्नता के साथ कहते हैं कि श्रेष्ठ चारित्र को वहीं पर (आचार्य विद्यासागर के पास) जाकर के देखो। बारहवें गुणस्थान में स्थित वीतरागी को यदि आप देखना चाहते हो तो विद्यासागर मुनिराज को देखो। इस प्रकार आकाशमण्डल में प्रकाशमान हुए बालसूर्य के समान जिन मुनिराज की आचार्यकल्प श्रुतसागर जैसे चिरदीक्षित साधु भी प्रशंसा करते हैं।

सम्यग्ज्ञानरूपी जलधारा के द्वारा, अंतरंग और बहिरंग यमरूपी कूलों को कसने वाली तथा परीषहों रूपी तरंगों से उछलती हुई नदी के समान जो मुनिराज सुशोभित हैं। समस्त शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त करने से जो विद्वानों में अग्रणी माने गये हैं तथा लोक स्थिति (संसार की परिस्थिति) का परिज्ञान होने से जो इस लोक में व्यवहार को जानने में भी कुशल हैं। इस लोक में राजा की शरण में आये हुए आश्रितों की तरह जिनका आश्रय पाकर के जीव सुखी होते हैं तथा वीर भगवान् की सभा में पहुँचे हुए प्राणियों की तरह जिनके पास पहुँचकर डरे हुए जीव निर्भय हो जाते हैं।

जिनके वात्सल्य की प्रकृष्ट कृपा रूपी छाया में स्थित होकर के दुःसह पथ को प्राप्त करके अच्छे साहस के साथ सज्जन पुरुष सहज ही चलते जाते हैं। अर्थात् मोक्षमार्ग कठिन है वह जिनकी कृपा छाया से सरल लगने लग जाता है और भव्य जीव उस पर सहजता से चलते चले जाते हैं। जिनका प्रतिक्षण का निर्दोष चारित्र देखकर के मूलाचार को नहीं जानते हुए भी शिष्य समीचीन आचरण करने लग जाते हैं। चार हाथ प्रमाण भूमि को देखकर ईर्यासमिति से चलते हुए जिन्हें देखकर ''इस प्रकार से ही मुझे चलना चाहिए'' ऐसा शिष्य जान लेते हैं। जिनके दंतपंक्तियों की कांति से

स्फुरायमान वचन संदर्भों की श्रेष्ठ रश्मियाँ भाषा समिति के लक्षण को स्वयं ही प्रकाशित कर देती हैं। कृत-कारित और मानसिक अनुमोदना से आहारपान में स्पृहा नहीं होना ऐषणा समिति है। वह ऐषणा समिति नित्य निस्पृह पुरुष के लिए ही होती है। देखकर के और अच्छी तरह से परिमार्जित करके उपकरणों के रखने और ग्रहण करने में जिनकी वृत्ति को देखकर शिष्य (आदाननिक्षेपण समिति) तो इसका नाम है, ऐसा मानकर समिति को जान लेते हैं। निकट में निर्मित शौच गृह में, प्रासुकता से रहित स्थान में रात्रि में जो शौचक्रिया नहीं करते हैं वही उच्चार प्रस्रवण समिति विद्वानों ने जानी है। महाव्रतों के ग्रहण करने पर भी जिनका समिति के साथ प्रवर्तन होता है वह ही संयमी होते हैं। कलिकाल में ऐसे संयमी आप माने गये हैं।

जिनके ब्रह्मचारी शिष्य स्वयं के समान ही कौमार (अविवाहित) हैं और उच्च शिक्षा को ग्रहण करके भी जिनके प्रभाव से दीक्षित हुए हैं। जिनके सभी शिष्य मुनि और आर्यिकाएँ यौवन गुण से सम्पन्न और ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए हैं उन सभी शिष्यों के जो नायक हैं। मेघरहित आकाश में पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर भी उसमें कलंक दिखाई देता है किन्तु जिनकी कीर्ति निष्कलंक है उनकी उपमा किससे दी जाये? ॥३३॥

इस भारतवर्ष में भुज (गुजरात) में भूकंप आने पर लोगों के गृह और धन विनाश को प्राप्त हो गये किन्तु जिस दीवाल पर आपका बिम्ब (चित्र) लटक रहा था वह घर ही सुरक्षित रहा। जिनके स्मरण मात्र से रोग और विघ्न दूर हो जाते हैं इस तरह की वार्ता प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनी जाती है जो लोगों के लिए विस्मय उत्पन्न करती है। जैसा कि पहले सुना जाता था कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से स्वयं के और दूसरों के विघ्न नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार से वर्तमान में आपके सान्निध्य में देखा जाता है।

जो अन्यथा नहीं बोलते हैं और बहुत कुछ मौन से ही रहते हैं तथा जो बोलते हैं उसका प्राणों के कण्ठगत होने पर भी पालन करते हैं। जिनके चित्त में गुरु की मूर्ति टाँकी से उकेरे हुए की तरह सदैव विद्यमान रहती है और वह मूर्ति दिव्यज्ञान स्वरूप से आज भी अधिष्ठित है।

तपते हुए रवि की कांति होने पर क्या कमलिनी दुख को प्राप्त होती

है? अर्थात् विकसित नहीं होती है? अवश्य ही होती है। इसी प्रकार गुरु की मूर्ति चित्त में होने पर आप ही बताएँ कि मुझे क्या दुख हो सकता है? इस प्रकार से जो गुरु अपने गुरु के लिए कहते हैं।

जिनके गमन के पथ और काल का एक क्षण पूर्व भी कोई अनुमान नहीं कर सकता। अतिथि संज्ञा को सार्थक करने वाले जो सदा अनियतगामी हैं।

ऋतुकाल में बिना पिच्छी के आर्यिकाओं का प्रवर्तन होता है और दीक्षा को प्रदान करके संघ से दूर ही जिनका विहार और प्रवास होता है। उन आर्यिकाओं का नवधाभक्ति के बिना ही सदैव आहार ग्रहण होता है। निर्दोष संघ की वृत्ति के लिए श्रेष्ठ गुरु की यह दूरदर्शिता है। जिनके संघ में पीने का जल कुँए का ही नियम से लिया जाता है और रात्रि में बिजली का प्रयोग तथा उसके बने उपकरण निषेध किये गये हैं।

शुद्धि के समय पर मिट्टी का प्रयोग नहीं होता है। गर्मी में पंखे आदि का प्रयोग नहीं होता। अग्निपक्व फल अथवा उन फलों का रस ही सेवनीय है और उसी को प्रासुक माना है। एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना परम धर्म है। दया धर्म से युक्त चित्त से जो स्वयं करते हैं और अन्यों को भी कराते हैं।

चटाई के प्रयोग करने के जो त्यागी हैं। शीत में भी कभी आवरण नहीं करते हैं। रात्रि में मौन और सदा तीनों संध्याओं में सामायिक को धारण करते हैं। मीठा, इष्ट व्यंजन और नमक के जो त्यागी हैं। आहार के लिए एक घर में ही प्रवेश करने का नियम है तथा चर्या के लिए भी एक बार ही जाना चाहिए, इस प्रकार जिनकी देशना है। जो थोड़ा बोलते हैं, थोड़ा आहार करते हैं, चित्त को एकाग्र रखते हैं, प्रसन्न बुद्धि वाले हैं, देखते नहीं हैं फिर भी दूरदर्शी हैं। जो अपने संकेतों में ही सब कुछ कह देते हैं।

तीर्थ पर और क्षेत्रों पर सदा वास करते हैं। वहीं पर आकर श्रावक आहार प्रदान करके प्रसन्नता के साथ बहुत दान देते हैं। उस दान से तीर्थों का विकास होता है और नवनिर्माण होता है। जिनके प्रभाव से तीर्थों का उद्धार सहजता से हो जाता है। भो! जिन्होंने कभी भी इस संसार में तीर्थ के लिए भी धन की याचना नहीं की। इसी कारण से वह मेरे गुरु अकिंचन हैं।

इसलिए उनकी कथा मैं कहूँगा।

जिनकी महिमा से व्रत की इच्छा रखने वाले श्रावकों ने सूखे कुँए से भी जल प्राप्त किया है, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर पाटे के नीचे नाग क्रीड़ा करते हुए देखे गये हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से दुष्ट जन (डकैत) भी समीचीन आस्था को रखते हुए वर्षायोग की याचना करते देखे गये, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से अजैन पण्डा साधु स्वयं प्रसन्न होकर के दर्शन करने के लिए आते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से प्रधानमंत्री राज्यमंत्री जैसे मुख्य जन स्वयं ही दर्शन करने के लिए आते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा।

जिनकी महिमा से घंसौर गाँव में सूखा हुआ कुँआ जिनके कमण्डलु के जल के द्वारा जलवान हो गया, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से गोशालाओं में गौधन की रक्षा की गई और जैसा श्रीधवला ग्रंथ में लिखा है–''जो गोधन है वही लक्ष्मी है'' इस युक्ति को जिन्होंने चरितार्थ किया है, उनकी मैं स्तुति करूँगा।

जिनकी महिमा से स्त्रियों ने आर्यिका व्रतों को धारण किया और १७२ आर्यिका विचरण कर रहीं हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से कन्यायें ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुईं। जिनकी संख्या लगभग पाँच सौ प्रमाण है, उनकी मैं स्तुति करूँगा।

जिनकी महिमा से देश में हथकरघा उद्योग पुनः प्रचलित हो गया, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से नारी संस्कारित करने के लिए प्रतिभास्थली के नाम से संस्था इस देश में स्थापित हुई, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जो दिन में कभी सोते नहीं, दीवाल का आलम्बन लेते नहीं, सदा अप्रमत्तचित्त रहते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा।

''ये मेरा सिंहासन है इसी पर मैं बैठूँगा'' इस प्रकार के आग्रह से जो मुक्त हैं, ऐसे गुरु की मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से निश्चय एकान्तवादियों के वादी रूपी हाथियों के दुर्मद सूख गये हैं, ऐसे आचार्य सिंह की मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से विद्वानों के द्वारा वर्तमान में

संयम प्राप्त किया गया है और अंत में सल्लेखना प्राप्त की गई है, उनकी मैं स्तुति करूँगा।

जिनकी महिमा से स्वयं के ही दोनों भाई संयम को प्राप्त हुए और जो गुरु के समीप ही रहते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा। जिनकी महिमा से वाद-विवाद करने वाले वादियों की खाज दूर हो जाती है और सन्मार्ग को प्राप्त करके वे प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसे गुरु की मैं स्तुति करूँगा।

मूलाचार आदि शास्त्रों का अध्ययन संघ में सदा दीक्षित शिष्यों के लिए नियामक है, उन आचार्य देव की मैं स्तुति करूँगा। यन्त्र, मन्त्र आदि के द्वारा प्रभावना करना जिन्होंने निषिद्ध की है और गृहस्थों के हाथों में पट्टा बाँधना मना है, उन आचार्य की मैं स्तुति करूँगा।

इस प्रकार गुणों से भरे हुए, गरिमा से युक्त समीचीन गुरु की कथा, आख्यान या काव्य जो कुछ भी हो, उसे मैं श्रेष्ठ भक्ति से कहूँगा। कथा चार प्रकार की कही गई है। उसमें पहली आक्षेपिणी कथा है, दूसरी विक्षेपिणी, तीसरी अमृत स्वरूप संवेदिनी कथा है। अन्य चौथी निर्वेदिनी कथा है। ये कथाएँ धर्मफल के अभ्युदय को देने वाली हैं। इनसे अन्य वार्ताएँ विकथाएँ हैं जो पाप देने वाली हैं। इन कथाओं में से इस प्रसंग में मैं अंत की दो कथाओं को संवेग और वैराग्य के साथ कहूँगा। अन्य कथाओं को तो न्याय ग्रंथों में कहा जाता है।

सप्त अंगों से सहित राजा होता है। सात ऋद्धिओं से विभूषित मुनि होते हैं। सात भेदों से युक्त तत्त्व होता है। इसी तरह से सात अंगों से युक्त कथा होती है। जिसमें जीव आदि द्रव्यों का, तीन लोक का, तीन काल का, तीर्थ का, भाव का और फलों का तथा प्रकृत विषय का विस्तार होता है। वह धर्मकथा है। उन अंगों में इस वीर भगवान् के तीर्थ में उपशम भाव से संयुक्त प्रासंगिक विषयवस्तु के रूप में आचार्य परमेष्ठी के चारित्र की कथावस्तु रची गई है। इस कथा का फल वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, स्पष्ट रूप से आचार शुद्धि और दोनों लोकों का हित करना जानना चाहिए।

यह समीचीन काव्य धर्म से सहित है, सभी अंगों से सहित है, सभी के हित की इच्छा से प्राकृत और संस्कृत वचनों के द्वारा अपनी इच्छा के

अनुसार मेरे द्वारा विस्तारित किया जा रहा है।

मेरा यह काव्य लोगों के मनोरंजन मात्र के लिए नहीं है और ना ही यह काव्य लोक में श्रृंगार रस के कामी पुरुषों के लिए प्रिय है अथवा पाडित्य को दिखाने के लिए क्लिष्ट और श्लिष्ट(मिलेजुले समास पद) पदों में नहीं है। ऐसे काव्य तो पत्थरों के टुकड़ों को ढोने के समान केवल बुद्धि के भार के लिए हैं अथवा भास आदि के काव्य के समान काव्यों की गिनती में स्थापना के लिए भी मेरा मन नहीं है और ना ही इस काव्य में प्राचीन पुराणों की तरह कथा वृद्धि का उद्देश्य है।

जिन बुद्धिमानों का आग्रह रस, अलंकार और शब्दों में होता है उनके आगे यह काव्य भले ही हास्य के लिए हो फिर भी कोई भय नहीं है। रवि के समक्ष दीपक को क्या भय होता है। यह काव्य कहीं तो सुभाषितों से परिपूर्ण है, कहीं पर अर्थ की संपदा है, कहीं पर पृथक्-पृथक् पदों का न्यास है और किसी सर्ग में समासान्त पदों का समावेश है। जो विलक्षण बुद्धि वाले हैं उनके लिए तो यह नई विधा प्रमोद के लिए होगी किन्तु जो पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं उनके लिए मात्र मुँह बिगाड़ने का हेतु होगी। दूसरे लोग मेरी प्रशंसा करें, ऐसा चिंतन करके बुद्धिमान कभी आचरण नहीं करते। कल्याण की इच्छा करने वाला कल्याण के लिए ही कल्याण के रास्ते को दिखाता है।

जो महापुरुषों के द्वारा पाले गये हैं और जो महान् अर्थ (मोक्ष) को देने वाले हैं निश्चय से महान् व्यक्तियों के द्वारा इस पृथ्वी पर इसीलिए उन्हें महाव्रत कहा गया है। मुझ महाव्रतधारी मुनि के द्वारा महाव्रतधारी की कथा कही जा रही है इसलिए मेरा यह महाकाव्य अतुलनीय माना गया है। जो दोषों के खोजने में संतुष्ट होते हैं सज्जनों ने उन्हें दुर्जन माना है। किन्तु जो सरसों मात्र गुणों को भी मेरु के समान मानते हैं उन्हें सज्जन माना गया है। जो दूसरे दुखी जनों को देखकर के बहुत अतुलनीय सुख धारण करता है और जो पुण्यात्माओं के पुण्य से होने वाली वृद्धि को देखकर ताप बुद्धि करता है अर्थात् अपने मन में ताप उत्पन्न करता है। जो दूसरों का कभी हित नहीं करते हैं और उनके ऊपर द्वेष करते हैं ये सब दुर्जन के लक्षण हैं।

बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे दुर्जनों को जानकर दूर से ही नमस्कार करे।

जो पाप रूप तीन लेश्याओं वाला है, दुर्बुद्धि है तथा जन्म-जरा-मृत्यु इन तापत्रय को बढ़ाने वाला है, आहारादि चार संज्ञाओं के लोभ में रत रहता है तथा पाप क्रियाओं में संलग्न रहता है। पहले तो प्रसन्न मन के साथ प्रीति उत्पन्न करता है बाद में वक्रता धारण कर लेता है तथा समय आने पर कार्य का विघात करने वाला होता है ऐसे दुष्ट मनुष्य को सज्जन लोग दूर से ही छोड़ते हैं।

जो मोह को छोड़कर सत्य हृदय वाला जीव बन्धु वर्ग में कभी भी अन्याय नहीं करता है, बन्धुवर्ग में होने वाले अन्याय को सहता नहीं है और न कभी अपकीर्ति को सहन करता है। जो निर्लोभी है सदैव धर्म बुद्धि को धारण करता है तथा आत्मप्रशंसा नहीं करता, निंदा से दूर रहता है। दया बुद्धि को धारण करने वाला वह जीव ही सज्जन माना गया है। जिसके अंदर ज्ञान होने पर भी जो दूसरों के आगे मौन धारण करता है। शौर्य होने पर भी शरीर को शांत रखता है और क्रूर भावों से दूर रहता है। धन होने पर भी मद से रहित होता है और कभी भी अपशब्द नहीं बोलता है उसको परम पुरुष प्रायः पुण्यवान जीव कहते हैं।

दुर्जनों में जो रोष नहीं करते हैं और सज्जनों में जो संतुष्ट नहीं होते हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने से श्रमण में ही सुमनस्कता होती है। श्रोता गुण को ग्रहण करने वाला हो और वक्ता हित का उपदेशक हो। संक्षेप से बुद्धिमान् पुरुष श्रोता और वक्ता के यही लक्षण जानते हैं।

इस प्रकार कहीं पर तो यह काव्य गद्य में पढ़ने रूप है, कहीं पर यह बहुत ही मृदु गेयात्मक है। दोनों प्रकार की भाषाओं के शब्द समूह से यह काव्य सर्वात्मक (सर्व रूप) है। ऐसा यह काव्य जयवंत हो। श्रेष्ठ गुणों से युक्त, श्रेष्ठ धर्म को अच्छी तरह धारण करने वाले, अतिविशिष्ट महापुरुष के विषय में की गई यह श्रेष्ठ भक्ति से उत्पन्न यह पदावली मोक्ष को देने वाले सुख को देने के लिए पदावली के समान है अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए नसैनी के समान है।

भो! इस संसार में प्रसिद्ध विशेष कष्टों के कारण से जनता भय को

प्राप्त होती है। वहीं पर साधु हमेशा परीषहों को धारण करने से समता को भजता है। इस कारण से ही आर्त्तध्यान को छोड़कर गुरुदेव दो मासों में उत्कृष्ट केशलोंच करते हैं चाहे प्रतिकूलता की स्थिति क्यों न हो?

इस पृथ्वी पर भव्य जीव उत्कृष्ट पुण्य वालों की वृत्ति को धारण करते हैं। धर्म के संदेश के बिना संसारी प्राणियों को स्वभाव से ही इस प्रकार करते हुए देखा गया है। सत्य ही है–मोही जीवों के मोह से उत्पन्न हुए अंधकार का प्रसार तभी तक रहता है जब तक कि किरणों को स्फुरायमान करता हुआ सूर्य के समान तेजस्वी कोई विशेष आचार्य का उदय इस पृथ्वी पर नहीं होता है। संघ में प्रवेशकाल से लेकर जिन्होंने शिक्षा प्रदान की और वात्सल्य से सिंचित किया वह मैं (प्रणम्यसागर) जिनका कृतज्ञ हूँ उन मुनि समयसागर की वंदना करता हूँ।

मुनि योगसागरजी के मुख कमल से निर्गत समीचीन वाक्यरूपी अद्भुत तन्तु ही इस श्रेष्ठकाव्य पट के लिए हेतु हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला बीजभूमि संज्ञक पहला सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

दूसरा सर्ग
दिव्यावतरण

असंख्यात संख्या वाले समस्त द्वीपों में जम्बूद्वीप सदा मध्य में स्थित है तथा सभी द्वीपों में सर्वोपरि है। इसकी शोभा किसी से विरोध को प्राप्त नहीं है। उस जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत शोभित होता है जो एक लाख योजन विस्तार वाला है। अहो! मनुष्यो! तुम सब स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो मानो अपनी ऊँचाई से वह यहाँ सभी से कह रहा है। उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण दिशा भाग में धनुष के समान अथवा अर्ध चन्द्रमा के समान भरत नाम का क्षेत्र है जो छह खण्डों से युक्त है तथा छह प्रकार के कालों से परिवर्तित होने वाला है। वह क्षेत्र दर्शनीय है। छह खण्ड की भूमि को जीतने वाले प्रथम चक्रवर्ती भरत राजा प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के नाम से भारतवर्ष यह नाम इस खण्ड का विख्यात हुआ है। जैनों के अलावा अन्य पुराणों में भी उनका उल्लेख है। वह भरतक्षेत्र विजयार्ध नाम के पर्वत से तथा गंगा नदी और सिंधु नदी के विभाजन से म्लेच्छखण्ड और आर्यखण्डों में विभाजित है। ऐसा वह क्षेत्र छह भागों में विभाजित हुआ श्रेष्ठ है। पहले सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा जो स्वप्नों में देखा गया कि दक्षिण दिशा में धर्म होगा। प्रमुख, प्रभावक, ज्ञान और तप में श्रेष्ठ आचार्य और साधुओं की उत्पत्ति दक्षिण दिशा में ही होगी।

उसी पृथ्वी पर श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, श्री धरसेनाचार्य, श्री पुष्पदन्त आचार्य, श्री समन्तभद्र आदि, आचार्य श्री पूज्यपाद, भट्टाकलंक देव और सिद्धसेनादि आचार्य हुए हैं। श्रुतधर श्रेष्ठ आचार्यों में गुणधराचार्य श्रेष्ठ माने गये हैं जो पाँचवें पूर्व के आंशिक ज्ञाता थे। यतिवृषभ आचार्यदेव ने गुणधराचार्य रचित कषाय पाहुड़ सूत्र पर श्रेष्ठ चूर्णिसूत्रों की रचना की है। जो राष्ट्रकूट वंश में उत्पन्न हुए हैं ऐसे श्री वीरसेन, जिनसेनाचार्य, उन्हीं के श्रेष्ठ शिष्य गुणभद्राचार्य हुए हैं जिनके शिष्य नृपराज अमोघवर्ष हुए हैं। शिवार्य, कार्तिकेय, विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि इत्यादि अनेक मुनि श्री वर्धमान भगवान् की परम्परा में इसी भूमि पर हुए हैं।

दक्षिण दिशा में जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को बढ़ाने वाला, धर्म सहित जैनों की बहुलता वाला, सज्जनों के द्वारा मान्य वह वैणुपुर नाम से जनपद है। जो इस पृथ्वी पर पहले से ही जाना जाता है। उसी जनपद में सुख को देने वाली चिक्कोड़ी तालुका है। वह शांतिगिरि नाम का तीर्थक्षेत्र समस्त जीवों के नेत्रों के गोचर है। उसी से आचार्य शांतिसागर की जन्मभूमि से संबंधित क्षेत्र भी लगा हुआ है तथा उसी के पास निकटता को प्राप्त सुखमय शेडवाल ग्राम में जिनरूप को धारण करने वाले विद्यानंद महाराज का जन्म हुआ।

इसी प्रकार उस ग्राम के निकट कोथली ग्राम है जहाँ पर श्रेष्ठी पुत्र देशभूषण का जन्म हुआ। जैसे सागर में विविध रत्नों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार श्रेष्ठ गुणरूपी रत्नों से भावित महात्माओं की उत्पत्ति यहाँ देखी जाती है।

जिस कर्नाटक प्रदेश में अनेक प्रदेशों से मण्डित होने पर भी बेलगाँव प्रदेश में चिक्कोड़ी-निपानी पथ पर शांतिगिरि क्षेत्र के चारों ओर भोजग्राम में आचार्य शांतिसागर महाराज, शेडवाल में आचार्य विद्यानंदि महाराज और कोथली ग्राम में आचार्य देशभूषण महाराज की जन्म भूमि शोभित होती है। जिस कर्नाटक में श्रमणों का श्वेत सरोवर श्रवणबेलगोल तीर्थ प्राचीन नाम कटवप्र अति प्रसिद्ध है। वहाँ पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा सम्पूर्ण विश्व में निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप में ही वास्तव में निरहंकारता है, अकिंचन भाव में ही आत्मसुख की संपदा है, वैराग्य भाव में ही निर्भय जीवन है, तप: कर्म में ही आत्मशुद्धि की योग्यता है इत्यादि रूप से जिनधर्म की कीर्तिपताका को प्रकट करती है।

उस प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने वाले महापुरुष चामुण्डराय गंगवंशीय राचमल्ल राजा के प्रमुख मंत्री और सेनापति थे। उन चामुण्डराय की जिनभक्ति में तत्पर काललदेवी माता थी। ''बाहुबली की प्रतिमा का दर्शन करके ही मैं दूध ग्रहण करूँगी'' इस प्रकार का नियम उस माँ ने लिया था। उसी नियम की पूर्ति के लिए मातृभक्त चामुण्डराय ने वह गोम्मटेश्वर की प्रतिमा बनवाई। उस चामुण्डराय के लिए ही आचार्य नेमिचन्द्र

सिद्धान्तचक्रवर्तिदेव ने गोम्मट्टसार ग्रंथ की रचना की थी।

उसी श्रवणबेलगोल में अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु की और उन्हीं के शिष्य अंतिम मुकुटबद्ध राजा सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की सल्लेखना बहुत विख्यात है।

उसी श्रवणबेलगोल में पाँच सौ से अधिक शिलालेख हैं जो बहुत प्रकार की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। उनमें से कितने ही शिलालेख सल्लेखना संबंधी हैं, कितने ही शिलालेखों में दक्षिणभारतीय और उत्तरभारतीय जनों की यात्रा संबंधी वृत्तांत हैं, कितने ही शिलालेखों में जिनालय और जिनबिंब के निर्माण के विषय में, कितने ही शिलालेखों में दान में प्रसिद्ध पुरुष और स्त्रियों के नाम के विषय में तथा कितने ही शिलालेखों में भगवान महावीर की आचार्य परम्परा के संबंध में पर्याप्त जानकारी है। कितने ही शिलालेख जिनभक्त महिलाओं के विषय में हैं जैसे अक्कव्वे, जक्कनव्वे, नागियक्क, माचिकव्वे, शांतिकव्वे, एचलदेवी, शांतला, श्रीदेवी, पोम्मलदेवी इत्यादि प्रमुख हैं।

कितने ही शिलालेख शिल्पियों से संबंधित हैं जैसे–दासोज, अरिष्टनेमि इत्यादि। कितने ही शिलालेख मूल संघ के वंश वृक्ष के विषय में हैं, आचार्य भद्रबाहु चंद्रगुप्त आदि की सल्लेखना और संघ के आगमन आदि के विषय में हैं।

जिस कर्नाटक में मूड़बद्री मठ में तीर्थंकर भगवान् महावीर की देशना से आये हुए पूर्वगत सिद्धान्त के अंश रूप धवल, जयधवल, महाबंध ग्रंथ ताड़पत्र पर उत्कीर्ण देखे गये हैं।

जिस कर्नाटक में बहुचर्चित, धार्मिक, राजनायक होयसल साम्राज्य का प्रमुख संस्थापक विष्णुवर्धन (११०६–११४१ ई०) जिनधर्म परायण राजा हुआ। जिसके दान की प्रशंसा अनेक शिलालेखों में प्राप्त है। 'सम्यक्त्व चूड़ामणि' इस उपाधि से जो स्तुति को प्राप्त हुआ है। शैवधर्मावलंबी मारसिंगय्य पिता और जिनधर्मानुजीवी माता माचिकब्बे की अनिद्यसुंदरी शांतला नाम की पुत्री उस राजा की पट्टरानी थी। जो नृत्य गायन और राज्यधर्म की संचालिका थी तथा अपनी माँ के समान ही जिनभक्त थी।

धर्मगुरु प्रभाचंद्र सिद्धान्तदेव के गुरुचरणों की अनुरागिणी, सीता के समान पतिव्रता, पति हित में सत्यभामा, निपुण मंत्री के समान प्रत्युत्पन्नमति, गीत, नृत्य वाद्य आदि कलाओं में स्वर्ग की अप्सरा के समान, जिनमत के प्रसार करने में यति के समान, आहारादि दान में सती चंदना के समान तत्पर रहने वाली थी। जिसके द्वारा श्रवणबेलगोल में 'सवतिगन्धवारणवसदि' इस नाम से शांतिनाथ तीर्थंकर का भव्य जिनालय बनवाया गया। जो जिन गंधोदक से पवित्र देह वाली, भव्यजनों के लिए वात्सल्य धारण करने वाली, व्रत-गुण-शील को धारण करने वाली वह शांतला शिवगंग नामक स्थान पर अंतिम समय में समाधिमरण को प्राप्त हुई।

अनादि अनिधन इस लोक में अनन्तानन्त जीव परिभ्रमण करते हैं। उनकी संख्या सदा ही लोक के समान शाश्वत होती है। कभी काल आदि लब्धि के वश से अतिदुर्लभ मनुष्य-पर्याय किसी जीव को प्राप्त हो जाती है। उसमें भी उत्तम देश, उत्तम गृह, उत्तम कुल, उत्तम बुद्धि, उत्तम देह और विनम्रता आदि गुण उत्तरोत्तर दुर्लभ होते हैं। यह सब कुछ प्राप्त करके भी, जो अनादिकाल से आये हुए जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति की इच्छा करता है, वह तो अत्यन्त दुर्लभ है। इतनी दुर्लभतायें भी भाग्य और पुरुषार्थ के संयोग से प्राप्त करके इस चार गति रूप शाश्वत भ्रमण से जो विमुक्त हुए हैं, वे ही सज्जनों के द्वारा वंदनीय और प्रशंसनीय हैं।

सच ही है–जो कुछ भी वैभव और सौभाग्य आज प्राप्त हुआ है, वह दैव (भाग्य) से ही होता है। उसे त्याग करने का भाव लोक में दुर्लभ पुरुषार्थ है। यद्यपि यह मुक्ति की प्राप्ति का क्रम सभी क्षेत्रों में नहीं होता, फिर भी सभी कालों में नियत होता है। अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी इस भारत-भूमि को पवित्र करके निर्वाण को प्राप्त हुए। इस ही भूमि पर अनेक गणधर-देव, केवली, श्रुतकेवली, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु समय-समय पर स्वयं की आत्मा को कलिकाल सम्बन्धी पापों को समाप्त करने में समर्थ (ऐसी) श्रुतगंगा में स्नान करके भुक्ति (स्वर्गादि) और मुक्ति के पात्र हुए। उनके निर्मल आचरण से यह समस्त जगत् ही पवित्र हुआ है। आज भी उनकी चरित्र कथा का श्रवण एवं उनकी कथा को मन में भाना

सज्जनों के हृदय को पवित्र करता है।

सच ही है–पूर्ववर्ती महापुरुषों का चरित्र हृदय को शोभित करता है और पुण्य का आह्वान करता है। महापुरुषों का चरित्र वैराग्य उत्पन्न कराता है और इससे चरित्र की विशुद्धि होती है।

उन पवित्र आत्माओं में कितने ही महापुरुषों का चरित्र आज भी सुनने में आता है। जो महान् पुरुष होते हैं, वे तो सभी जीवों के अन्तःकरण (हृदय) को स्वयं की निर्मल यशकीर्तिरूपी किरणों के द्वारा निरपेक्ष रूप से निर्मल करते हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, उनके संपर्क मात्र से जीवों के मानस पटल पर, उनकी छवि टाँकी से उकेरी गयी के समान सदा तैरती है। जो महान् पुरुष होते हैं, उनकी आदर्श प्रवृत्तियाँ आदर्श (दर्पण) के समान भव्य जीवों के मन में आगे-आगे सञ्चरण करती हुयीं, उनके पथ को प्रकाशित करती हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, वे सुगन्धि के समान सर्वत्र फैलते हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, वे गंगा की जलधारा के समान सब जीवों के मन की (गंदगी) मलिनता को धोते-धोते बहते हैं। इसलिए उनके प्रवहमान चारित्र का कथन करने के लिए अथवा बाँधने के लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है, फिर मेरे जैसे बालकों की कैसे शक्ति हो सकती है? ऐसा जानकर भी अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार कार्य करने में हानि नहीं है, क्योंकि निश्चय ही कल्पवृक्ष संतोषकारी पुष्प, फल और छाया को देते हैं, फिर सामान्य वृक्ष भी अपनी शक्ति से क्या फल नहीं देते? दूसरी बात यह है, कि जिनके गुणों का वर्णन करने के लिए मैं उद्यत हुआ हूँ, वे ही मुझमें क्या शक्ति और बुद्धि नहीं पहुँचा देंगे? इसलिए ही मैं कमर कसकर तैयार हो गया हूँ।

सच ही है–महापुरुषों की भक्ति और उनका कीर्तन (गुणगान) करने की यदि शक्ति नहीं होती है, तो भी भक्त भक्ति अवश्य करता है, क्योंकि श्रेष्ठ कार्य करने में आखिर हानि क्या है? इस भारत देश के कर्नाटक प्रदेश में सदलगा नाम का एक ग्राम है। कृषि प्रधान यह गाँव अत्यन्त मनोहर है। उस ग्राम के निवासियों की स्वच्छ साधारण वेशभूषायें उनके स्वच्छ निष्कपट हृदय को प्रकट करती हैं। ग्राम से बाहर दूधगंगा नदी लगातार बहती है और

वह नदी रक्षक की तरह गाँव को तीन ओर से स्पर्श करती है। दूध, घी और मट्ठा आदि की कमी कभी नहीं हुई, इस प्रकार कहलाने वाली नदी गाँव की परिक्रमा करती है। कृषि कार्य को करने वाले हृष्ट-पुष्ट किसान इस बात के प्रमाण स्वरूप दिखाई देते हैं। सब ओर से ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और धन-धान्य से युक्त उपजाऊ भूमि ग्रामीणों की समृद्धि को बिना कहे ही कह रही है। विभिन्न मतावलम्बी मन्दिरों में और मस्जिदों में उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ वहाँ के मनुष्यों के हृदय के सौहार्द को व्यक्त करती हैं।

सच ही है–भारतवर्ष में साधुजन और मंदिर आदि के द्वारा धर्म पद-पद (पग-पग) पर होता है। जो अनेक मत-मतान्तरों का विस्तार देखा जाता है, वह इसी अनेकांत वृक्ष का विस्तार है। वहाँ पर एक अष्टगे गोत्र नामक परिवार रहता था। मल्लप्पा अष्टगे उसमें कुल परम्परा से आये हुए मुख्य सज्जन थे। वह मध्यम ऊँचाई वाले धार्मिक और बलिष्ठ देह वाले थे। उनके पिता पारिसप्पा अष्टगे थे। पारिसप्पा श्रेष्ठी की सहभागिनी कश्मीराबाई थी। वह सेठ धर्मपरायण, दानपरायण और न्याय से अर्जित धन से आजीविका करते थे। घर में चंद्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय में प्रतिदिन अभिषेक पूजा पाठ करके, वह अन्य कार्यों में प्रवृत्त होते थे। सभी प्रकार के वैभव से सम्पन्न बड़े जमींदार थे तथा साहूकारी भी करते थे। अण्णप्पा, मल्लप्पा, आदप्पा ये तीन उनके पुत्र थे। चंदाबाई, अबलाताई ये उनकी दो बेटियाँ थीं। उनमें मल्लप्पा सातवीं कक्षा पर्यंत तक कन्नड़ माध्यम से पढ़े थे। उर्दू, मराठी भाषा भी उन्होंने सीख ली थी। मल्लप्पा कभी भी स्वाध्याय नहीं करते थे, इसलिए पिता सदा कहा करते थे- ''क्या अपने जीवन में मैं तुम्हें स्वाध्याय करते हुए देख पाऊँगा?'' तो भी अपने पिता के समक्ष उन्होंने शास्त्र पढ़ने का मन नहीं बनाया।

जब मल्लप्पा अठारह वर्ष के थे, तब उनके मन में संसार की दशा का चिन्तन करने से संसार से वैराग्य हो गया। और वह दीक्षा ग्रहण करने के लिए घर से बाहर बेंगलुरू नगर चले गए। उनके पिताजी यह समाचार सुनकर बैचेन हो गए। जैसे-तैसे वह उस नगर में गए। वहाँ आचार्य श्री शान्तिसागरजी बैठे थे। उनके पास ही मल्लप्पा बैठे थे। पिताजी के द्वारा

उनको सम्बोधन किया गया–''घर में कुछ समय व्यतीत करके दीक्षा ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है। अब मेरा स्वास्थ्य उचित प्रतीत नहीं होता। कर्त्तव्य से विमुखता बहुत बड़े पाप का कारण है।'' इत्यादि प्रकार से संबोधित करके उन्हें ले आये। एक वर्ष के बाद उनका विवाह हो गया। सुन्दर वचन बोलने वाली, सौम्य मुखी, धर्मपरायण 'श्रीमंती' नाम वाली उनकी पत्नी थी। पिता की आज्ञा के सम्मुख वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं हुए। फिर भी हृदय में विरक्ति हमेशा प्रवाहित होती रही। समीचीन ज्ञान का फल अयोग्य अथवा योग्य वस्तुओं का त्याग है। इस त्याग से ही विवेक और भेद-विज्ञान इसी प्रकार बढ़ता चला जाता है।

आचार्य श्रीशांतिसागरजी से श्रमण-दीक्षा के लिए उन्होंने निवेदन किया। गुरुदेव ने आज्ञा प्रदान नहीं की। परिवार में छोटे पुत्र पुत्रियाँ हैं, उनका पालन करना प्रथम कर्तव्य है। बाद में ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने लघु वय को देखकर शीलव्रत दिये और पक्ष तथा पर्वादि में ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान किया। तदनन्तर मल्लप्पा ने कहा–कुछ ज्ञान भी दीजिये। गुरु ने कहा–आत्मा भिन्न है, देह भिन्न है, यह जानने योग्य है। उसी के अनुसार उनका जीवन बन गया। उन्होंने विवाह होने पर भी एक पत्नी व्रत ले लिया। इस स्त्री का यदि कभी मरण हो गया, तो भी मैं फिर से विवाह नहीं करूँगा, ऐसा उन्होंने संकल्प लिया। आचार्य श्री शांतिसागरजी मुनि के समक्ष उनके द्वारा एक संकल्प लिया गया। सत्य ही है–श्रावकजन का धर्म स्वदार संतोष और एकपति का लाभ होना उत्कृष्ट संयम कहा गया है। वह संयम देव और मनुष्यों से पूज्य है।

एक दिन अचानक पिता के पेट में पीड़ा उत्पन्न हुई। चार दिन तक व्याधि से पीड़ित रहने पर पिता ने सभी व्यापार और परिग्रह को पुत्रों के बीच में बाँट दिया। णमोकार मंत्र के साथ सर्व त्याग पूर्वक समाधि से मरण हुआ और स्वर्ग गये। उस समय मल्लप्पा इक्कीस वर्ष के थे। पिता के मरण के उपरान्त उन्होंने बार-बार पिता के वचनों का चिंतन किया, कि स्वाध्याय करना चाहिए। तब उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब मैं प्रतिदिन स्वाध्याय करूँगा। स्वाध्याय प्रारम्भ हुआ। ग्रामवासी अनेक जन घर में

स्वाध्याय सुनने के लिए आते थे और हर्षित होते थे। धीरे-धीरे मल्लप्पा का तत्त्वज्ञान गाढ़ हो गया।

जब पिता का स्वास्थ्य अत्यन्त प्रतिकूल हो गया था, तब औषधि खरीदने के लिए मल्लप्पा औषधालय गए। वहाँ ही उन्हें सुनायी दिया, कि पिता का मरण हो गया। उसी समय वह दौड़ते हुए घर आये। बीच रास्ते में दौड़ते हुए उनको जूते चलने में बाधक प्रतीत हुए। उस कारण से वह जूते हाथ में लेकर आ गए। तब तक पिता की मृत्यु हो गयी। यह देखकर उन्होंने बहुत अधिक विलाप किया। इसके बाद उन्होंने संकल्प लिया- ''कभी जूते धारण नहीं करूँगा।'' विवाह के छह माह बाद ही यह घटना हो गयी। उस संकल्प का उन्होंने सदा पालन किया।

वास्तव में संकल्प ही सुव्रत है। संकल्प के ही कारण पुण्य और पाप होते हैं। इसी संकल्प से यमपाल सदृश निम्नजाति का व्यक्ति भी श्रेष्ठ देवों से पूज्य हो जाता है। अंग्रेजी दवाओं का बचपन से ही उन्होंने त्याग कर दिया था। दशलक्षण पर्व में एक दिन बाद भोजन करते थे। अष्टमी और चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करते थे। आपकी भगवान के प्रति भक्ति अति विशिष्ट थी। आप भगवान के चरणों में कमल पुष्पों को समर्पित करने के लिए अति रुचि रखते थे। रास्ते में जाते हुए जब कभी भी, जहाँ कहीं भी कोई अति मूल्यवान पुष्प दिख जाता था, तो उसे खरीदकर जिनचरणों में समर्पित कर देते थे। यह भक्ति सबके लिए विस्मय उत्पन्न करती थी।

सम्यग्ज्ञान का फल स्वभाव से ही जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों की भक्ति करना, व्रती तथा मुनिजनों को दान देना एवं उनकी सेवा करना है। साधुसेवा में समर्पित मल्लप्पा एक बार आचार्य श्रीमहावीरकीर्ति महाराज को अपने गाँव में लाने के लिए गए। अचानक से वर्षा होने लगी। रास्ते में एक बहुत बड़ा नाला था, जो जल से भर गया। महाराज वहीं पर रुक गये। महाराज कहीं वापस न लौट जायें, इस भय से मल्लप्पा ने मुनिराज को अपने कंधे पर बिठाकर नाले में उतर गए। बीच रास्ते में मल्लप्पा के पैर धँसने लगे। ऊपर निकलने में अशक्य होने पर वह णमोकार मंत्र को पढ़कर जैसे-तैसे आगे चले। उनके कष्ट को देखकर आचार्य महाराज किनारे से

पहले ही उनके कंधे से उतरकर खड़े हो गए। मल्लप्पा अति बलवान हैं, इस प्रकार सभी ने प्रशंसा की।

दक्षिण देश में धर्म पंचमकाल में रहेगा। इस प्रकार जो श्रुत में कहा गया है, वह सत्य है। इसका कारण भी वहाँ सर्वदा साधु समागम होना है। इसी कारण सदलगा, बोरगाँव, शमनेबाड़ी, भोज, समडोली आदि स्थानों में जो बीस-तीस किलोमीटर की परिधि में हैं, साधुओं का समागम हमेशा यहाँ देखा जाता है। आचार्य शांतिसागर, आचार्य देशभूषण, आचार्य सुबलसागर, मुनि महाबल, अनंतकीर्तिजी इत्यादि श्रमणों के द्वारा वह स्थान हमेशा अलंकृत रहा है। इसी कारण से मल्लप्पा के घर में धार्मिक संस्कार थे। मल्लप्पा विद्याधर और महावीर को भक्तामर पाठ सिखाते थे। एक दिन उन्होंने दो-तीन काव्य याद करा दिये। प्रारम्भ में उन बालकों ने याद किया बाद में छोड़ दिया। याद नहीं करने पर वह दोनों बालकों को मारते भी थे और सौ-सौ दंडबैठक का दंड देते थे। उनका अति अनुशासन गाँव में प्रसिद्ध था। पाठ याद करने के लिए बच्चों को धन का लोभ भी देते थे जिससे बेटियाँ भी प्रतिस्पर्धा में पाठ याद करतीं थीं। पाठ को पूर्ण याद कर लेने पर वह पारितोषिक के रूप में वस्त्राभरण प्रदान करके बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करते थे। एक बार अपने घर में दिगम्बर गुरु के चित्र और शास्त्र के समीप अखंड दीप प्रज्वलित किया। वह छत्तीस वर्ष तक अखण्डरूप से जलता रहा। पाँच वर्ष स्तवनिधि क्षेत्र में अमावस की तिथि में जाने का संकल्प लिया था। प्रतिवर्ष पाँच नारियल लेकर अमावस को मेला के समय पर दर्शन करने जाते थे।

गुरुओं में उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। तीन-चार मास के अंतर में एक बार मुनि दर्शन अवश्य करेंगे, चाहे मुनिराज सत्तर-अस्सी किलोमीटर की दूर पर क्यों न हों, इस प्रकार का संकल्प भी उनका था, जिसे उन्होंने सदैव पूर्ण किया। उन्हें वनस्पति औषधियों का भी ज्ञान था। अल्पवय के शिशुओं का रोग निदान वह अधिकतर करते थे। अति ठंड में भी जंगल में जाकर के औषधि लाकर उसे कूट-पीसकर, विधिपूर्वक बनाकर दे देते थे। जिससे रोग नियम से चला जाता था।

इस प्रकार ही अनेक नियम-व्रतों का समय-समय पर पालन करके वह विरागमना घर में रहे। धर्म के साथ-साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ को करते हुए वह संतोषपूर्वक आयु की प्रत्येक पर्याय को (क्षण को) व्यतीत करते थे। धनोपार्जन के लिए कृषि ही मुख्य व्यवसाय था। बीच-बीच में उनके द्वारा हस्तकरघा उद्योग और सिनेमा घर खरीदना इत्यादि व्यवसाय प्रारंभ किए गए, परन्तु वह किसी भी व्यवसाय में सफल नहीं हुए। अन्त में उनके द्वारा निश्चित किया गया कि कृषि कार्य ही उत्तम है। उस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। घर के कार्यों से निवृत्त होकर वह प्रतिदिन शाम को प्रथमानुयोग नियम से पढ़ते थे। प्रातः देवपूजनादिक करके घर के कामों में उद्यत होते थे। इस प्रकार धर्म के साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ करते हुए भी उनके मुख पर उदासीनता कभी-कभी स्पष्ट दिखाई देती थी।

सच ही है–जो शल्य हृदय में विद्यमान रहती है, वह नियम से व्यक्ति के मुख पर दिखाई देती है। सच है–जल के भीतर कभी भी तैल नहीं ठहरता है, किन्तु जल के ऊपर तैरता है, यह जानना चाहिए।

एक बार श्रीमंती ने पास बैठकर पूछा–''आप कभी-कभी एकान्त में बैठकर क्या सोचते हैं? घर में तो सब कुशल है, फिर भी चिन्ता का कारण क्या है? मैं यह जानना चाहती हूँ।'' 'कुछ भी नहीं' ऐसा मल्लप्पा बोले। फिर से उन्होंने कहा–आपको कुछ कहने योग्य है। 'नहीं' यह शब्द कहने में ही प्रतीत होता है कि मन में कुछ ऊहापोह (चिन्ता) चल रही है। दूसरी बात यह है कि अपने मन के भावों को प्रकट करने से मन का भार अवश्य ही कम हो जाता है। मन का भार कहने से विनष्ट हो जाता है। कर्म का भार तप से नष्ट होता है। देह का भार श्रम से कम होता है और क्रोध का भार शम भाव से समाप्त होता है।

''अरे मति! आपका ज्ञान अत्यन्त निपुण प्रतीत होता है।'' ऐसा मल्लप्पाजी ने हँसते हुए कहा। वह पुनः कहते हैं–''सुनो! आपने सही कहा। एक बार मैं घर से बाहर निकलकर दीक्षा के लिए गया। मेरे पिता मुझे वापस ले आये। यह तुम्हें ज्ञात नहीं है। अब पिताजी भी स्वर्ग चले गए। इसलिए कभी-कभी मेरे मन में आता है कि मोक्ष पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है

और वह अवश्य ही करने योग्य है।'' ''आपकी भावना अत्यन्त कल्याणकारी प्रतीत होती है।'' ऐसा श्रीमंती ने कहा। पुनः वह आगे कहती हैं– ''फिर भी इस काल में जो करने योग्य है, वह ही अच्छी तरह कर लेना चाहिए और दूसरी बात धर्म से सहित काम और अर्थ पुरुषार्थ करने में क्या हानि है? क्योंकि यह भी गृहस्थों का धर्म होता है। धर्म से तीन वर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है, यह तीनों लोकों में कही गई है। इसलिए इन तीन वर्ग की प्राप्ति की जो इच्छा करते हैं, उन्हें निरन्तर धर्म-संग्रह करना चाहिए।''अरे मति! वैसा धर्म भी संसार का कारण प्रतीत होता है। मोक्ष पुरुषार्थ ही मोक्ष के लिए कारण है।'' ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

''मैं सही नहीं जानती, मोक्ष पुरुषार्थ किसका नाम है और इन दोनों में क्या भेद है?'' श्रीमंती ने कहा–''अरे, इन दोनों में महान् भेद है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ ये तीन प्रकार कहे जाते हैं। इनको करते हुए मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जो इन तीन प्रकारों को छोड़कर मोक्ष के लिए यत्न करता है वह ही मोक्ष पुरुषार्थी है। उस ही कारण से मोक्ष का 'अपवर्ग' यह दूसरा नाम कहा जाता है।'' ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

''फिर भी बहुत से महान् पुरुष घर में रहते हुए, आयु के अन्त में अनगारी मुनि हुए हैं, ऐसा करने में क्या अपराध है?'' इस प्रकार श्रीमंती ने कहा। तब मल्लप्पा कहने लगे–''हाँ वह सत्य है। फिर भी वे सभी दीर्घ आयु वाले हुए थे। अब सभी अल्प आयु वाले हैं। इसलिए इस कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अन्धे पुरुष के रस्सी बटने के समान गृहस्थों के धार्मिक अनुष्ठान भी कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। परम्परा से कारण होने के कारण उपचार से वह धर्म कहा जाता है, अज्ञानी जनों के संबोधन के समान। श्रीमंती ने कहा–''ऐसा ही है।'' बाद में वह मन में सोचने लगी– ''यह वैराग्य स्वाभाविक (स्वभाव से उत्पन्न) है। निश्चित ही यह आत्मा (निकट) आसन्न भव्य है।

सत्य ही है–वैराग्य से आत्मसुख होता है और वह वैराग्य एक तो पूर्वजनित कर्म से होता है, दूसरा मरण आदि घटना से होता है, ऐसा दो प्रकार का वैराग्य कहा गया है।

इस प्रकार त्रिवर्ग के उपभोग द्वारा कुछ काल व्यतीत कर उन दोनों को काम पुरुषार्थ का फल प्राप्त हुआ। पहला पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम चन्द्रकुमार रखा गया। कभी-कभी मनुष्य का भाग्य बलवान होता है, तब पुरुषार्थ की सफलता नहीं होती है। इस कारण से छह माह जीवित रहकर वह बालक मर गया। इसके बाद एक पुत्री उत्पन्न हुई। उसका नाम सुमन था। उसके जीवन काल में ही एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम महावीर हुआ। उन दोनों का स्वास्थ्य हमेशा ठीक नहीं रहता था। पहले ही प्रथम पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया था, अतः मन में भय लगा रहता था।

सत्य ही है–मनुष्य भव में जन्म होना, जीवित रहना, पूर्ण आयु मिलना, आरोग्य होना और सम्यग्ज्ञान होना इन सबको जो दुर्लभ कहा है वह सत्य ही कहा है।

गाँव से बाहर बारह मील दूर एक दिगम्बर श्रमण भट्टारक का समाधिस्थल था। उनका नाम विद्यासागर था। वह स्थल अक्किवाट में स्थित था। बहुत से लोग प्रतिदिन अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए आते थे। उस स्थल का प्रभाव व महिमा दूर-दूर तक फैली हुई थी। एक बार श्रीमंती ने भी उसके विषय में पति के साथ बातचीत की, यह सुनकर मल्लप्पा ने कहा–"भाग्यवति! अपने कर्मों का फल निश्चित ही भोगने योग्य होता है। यहाँ-वहाँ भ्रमण करने से क्या? पुण्य करो। उससे ही सब कुछ संभव होता है।

सत्य ही है–जिनभक्ति से पुण्य होता है। पुण्य से समस्त कार्यों की सिद्धि होती है, इसलिए दुख के क्षणों में जिन और गुरु की शरण ही करना चाहिए।

श्रीमंती बोली–"आप सही कहते हैं। हम दोनों भी वहाँ जाकर पूजा, अर्चना, भक्ति और अभिषेक करेंगे, जैसी यहाँ करते हैं। दूसरी बात यह है कि स्थान विशेष से भी भावों में विशिष्टता होती है, अन्यथा क्षेत्र प्रत्यय (अनर्थक) व्यर्थ ही हो जाये।" "यदि आपकी मन की अभिलाषा तीव्र है, तो वैसा हो। मुझे भी इस विषय में कोई आपत्ति नहीं है।" ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

तत्पश्चात् उन दोनों ने समाधिस्थल जाकर उन दिगम्बर श्रमण भट्टारक के चरण युगलों की अभिषेक-पूजादिक करना प्रारंभ कर दिया। तब माता के गर्भ में एक शिशु आया। नव मास तक प्रत्येक अमावस्या को वहाँ जाना निरन्तर हुआ।

इसी बीच एक रात श्रीमंती के द्वारा स्वप्न में ''आकाश में कोई भी जिनेन्द्र-देव के सामान तेजस्वी दिव्य शरीर'' का दर्शन हुआ। किसी अन्य समय पर मल्लप्पा ने भी देखा कि ''मैं खेत में आम के वृक्ष के नीचे बैठा हूँ। एक सिंह खेत में दौड़ता हुआ आया अचानक मुझे निगलने लगा।'' अनुकूल या प्रतिकूल जो जीवन में नियम से आगे होगा उसका निमित्त पहले ही स्वप्न या शकुन से दिख जाता है। निमित्तज्ञानी उसका फल इस प्रकार कहता है-''माता के दिव्यमूर्ति के दर्शन का फल कोई दिव्य पुण्यशाली पुत्र के गर्भ में आने को सूचित करता है। उसकी कीर्ति समस्त गगनरूपी आँगन में फैलेगी। जिनेन्द्र-देव की मूर्ति के समान दृश्य के दर्शन से वह जिनेन्द्र-देव के भेष (दिगम्बर भेष) में विहार करेगा।

पिता के आम के वृक्ष के दर्शन से फलित होता है-''आपके द्वारा उत्पन्न सन्तानरूपी वृक्ष तुम सभी को मीठा फल और अच्छी छाया प्रदान करेगा। आपकी समाधि अचानक होगी। सिंह के द्वारा निगलना वीर मरण को सूचित करता है।

सत्य ही है-धर्म वृक्ष के सुखफल यदि समय पर फल देंगे, यह सच है, तो अभी सिंचित किया हुआ वह वृक्ष नियम से सुख की छाया तो देता ही है।

नौ माह के पश्चात् प्रसवकाल आ गया। माता महावीर के समय की प्रसव पीड़ा को याद करती हैं। इसलिए वह मल्लप्पा से कहती हैं- ''महावीर के जन्म के समय मुझे बहुत वेदना हुई थी उसके स्मरण मात्र से मेरा मन काँप जाता है। इसलिए मुझे चिकित्सालय में ले चलो। मल्लप्पा शीघ्र ही उन्हें वहाँ ले गए। चिक्कोड़ी के सरकारी अस्पताल के प्रसूति गृह में उन्हें दिव्य पुत्र की प्राप्ति हुई। जन्म के समय उनके द्वारा किंचित् मात्र कष्ट का अनुभव हुआ। उत्पन्न होने वाले पुत्र की शरीर की कान्ति कुछ विशिष्ट

देखी गयी। वहाँ की परिचारिकायें बहुत प्रसन्न हुईं। १. कुछ माता के पास पुत्र को लाकर उनका अभिनंदन करके प्रशंसा करने लगीं। २. कोई पुत्र के मुख को चूमने लगीं। ३. कोई ''पुत्र को पहले मुझे दो'' ऐसी प्रार्थना करने लगीं। ४. कोई बाहर जाकर पिता को बधाई देने लगीं। ५. कोई उसी समय पुत्र का भार तौलने लगी। ६. नवजात शिशु का ऐसा समीचीन भार इससे पहले मेरे द्वारा नहीं देखा गया, कोई ऐसा आश्चर्य करने लगी। ७. कोई बार-बार उनके सर्वांग को देखने लगीं। ८. कोई माता के चरण की सेवा में संलग्न हुई, प्रश्न पूछती है कि– मनुष्यों का जीवन क्या है? (कं-जल है), जीवों का धन क्या है?(बल है), किस बलवान जीव को शीत कदापि बाधा नहीं देती है (कंबल वालों को)।

जो उचित भार से सहित है, लावण्य पूर्ण है, सत्त्व (बल) और तेज से सहित है, शरदऋतु के पूर्ण चंद्रमा में ऐसा कोई महापुरुष जन्म लेता है। सत्य ही है–पूर्व अर्जित पुण्य से ही आठ कुमारियों के द्वारा शिशु सेवित हुआ है। जीव सर्वत्र सौभाग्य धर्म से ही प्राप्त करता है।

धीरे-धीरे गाँव में यह संदेश फैल गया। ग्रामीणों ने भी उन दोनों का अभिनन्दन किया। उनके आने का समय आश्विन (सुदी) शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के लगभग १२:३० बजे था। संवत् २००३ दिनांक १० अक्टूबर १९४६ जब नक्षत्र उत्तरापद में २२/०६ अंश पर था।

नाम संस्कार के लिए दम्पती परस्पर में विचार करने लगे। शीघ्र ही श्रीमंती ने कहा–''इस विषय में चिन्ता कैसी? जिस स्थान के माहात्म्य से हमें यह उपलब्धि हुई है, उसके अनुरूप ही नामकरण करना योग्य है। 'विद्यासागर' यह नाम अच्छा प्रतीत होता है।''

मल्लप्पा बोले–''यह युक्त नहीं है। यह तो मुनिमहाराज का नाम है, ऐसा प्रतीत होता है। तीर्थंकरों के नाम में से कोई भी नाम चयन करो। पुनः श्रीमंती ने कहा–''नहीं, नहीं उस स्थल के अनुरूप ही कुछ करना चाहिए। कुछ क्षण सोचकर अचानक–हाँ 'विद्याधर'। मल्लप्पा ने उसी समय 'अच्छा है' ऐसी स्वीकृति प्रदान कर दी।

नाम के अनुसार भाव होता है, इसलिए शुभ नाम ही रखना चाहिए।

सभी व्यवहारों में प्रथम व्यवहार नाम निक्षेप ही है। शीघ्र ही सभी जोर से कहने लगे–विद्याधर! विद्याधर! घर में सभी जन निराकुलता का अनुभव करने लगे। पुत्र के आते ही सभी स्वयमेव अपूर्व शान्ति अनुभव (अनुभूत) करने लगे। माता-पिता भी मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हुए रहने लगे। सुख के पश्चात् दुख, दुख के पश्चात् सुख, यह नियम घटीयन्त्र के भ्रमण की तरह संसार में हमेशा चलता रहता है। यह नियम संसार में सभी के लिए है। महापुरुष भी इससे नहीं छूट पाए, तो फिर साधारण मनुष्यों की क्या बात है?

सत्य ही है–सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख होता है। सुख अथवा दुख अध्रुव हैं जो घटीयन्त्र के समान चलते रहते हैं।

बहिन सुमन दोनों भाइयों के साथ सुखपूर्वक खेलती थी। छह वर्ष की अवस्था में वह अचानक अस्वस्थ हो गयी। इलाज करवाने पर भी वह धीरे-धीरे कमजोर (कृश) होती गयी। अन्त में उसकी रक्षा न हो पायी और वह मृत्यु (यम) के मुख में चली गयी। ''पहले अल्प आयु में पुत्र की मृत्यु हो गयी। आज छह वर्ष उपरान्त पुत्री गोदी से चली गयी। अरे विधाता! यह किसलिए हो रहा है। मेरे विषय में ही क्यों रुष्ट हो? पूर्व में मेरे द्वारा क्या-क्या दुष्कर्म किए गए, जिसका फल आज अनुभूत हो रहा है।'' ऐसा श्रीमंती पति की गोद में विलाप करती हैं। मल्लप्पा धैर्यपूर्वक बैठे। कुछ भी नहीं बोले। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होते हुए स्थिर हो गए। कर्मों की विचित्र दशा का चिन्तन करने लगे।

सत्य ही है–पूर्व जन्म में जो आयु कर्म जीव ने पहले बांधा है। उसी के अनुसार जीवन चलता है, उसे अन्यथा करने के लिए कौन समर्थ है? किसी भी तरह स्वयं शान्त होकर उन्होंने श्रीमंती को संबोधित किया– ''अरे मंति! रोओ मत। पहले किए हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। इस विषय में अन्य किसी का भी दोष नहीं। जो घटित हो गया, उसको भूल जाओ, अन्यथा इन दोनों पुत्रों के पालन-पोषण में कमी हो जायेगी। देखो अभी ये दोनों (अल्प वयस्क) छोटी उम्र के हैं अत: सावधानी-पूर्वक इनका पालन करना चाहिए।''

''पहले भी दोनों का अच्छे से पालन किया था, बदले में कुछ भी नहीं मिला। आज मेरे मन में संसार से अत्यधिक उदासीनता उत्पन्न हो गयी है। कहीं भी मन स्थिर नहीं होता है। इन दोनों का पालन भी निरर्थक प्रतीत होता है।'' ऐसा श्रीमंती ने रोते हुए कहा। ''नहीं, नहीं ऐसा मत बोलो। **माता ही बच्चों की प्रथम पाठशाला है।** पहले जैसा स्वाभाविक प्रेम आपका बच्चों के लिए देखा है, वैसा ही अब करना है।

इस प्रकार सान्त्वना भरे वचनों के द्वारा श्रीमंती का चित्त शान्त हुआ। मल्लप्पा ने आगे कहा-''मेरे मन में एक घटना बार-बार आती है। उसको सुनाना चाहता हूँ।'' ''आप अवश्य कहिए, मैं सुनना चाहती हूँ'' ऐसा श्रीमंती ने कहा। उन्होंने कहा-यह घटना विवाह के पूर्व की है। वह इस प्रकार है-एक बार निकट के गाँव में, जिनेन्द्रदेव का पञ्चकल्याणक महोत्सव हुआ। पिता की आज्ञा से श्री चन्द्रप्रभ भगवान की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाकर मैं घर में ले आया और मेरे द्वारा घर के चैत्यालय में इस प्रतिमा की स्थापना की गयी। पिता की मृत्यु के बाद मैंने वह प्रतिमा श्री शान्तिनाथ जिनालय में स्थापित कर दी। घर का चैत्यालय भी मैंने समाप्त कर दिया। उसके कारण ही यह सब घटित हो रहा है ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

सच ही है-जिन साधुओं ने जिन प्रतिबिम्ब को मंगलभूत कहा है। जहाँ यह मंगल है, वहाँ अन्य हजारों मंगलों से क्या? ''यदि ऐसा है तो उसका उपाय खोजना चाहिए'' ऐसा श्रीमंती ने कहा। इसके बाद मल्लप्पा ने किसी भट्टारक के समीप इस प्रकार विचार-विमर्श किया। भट्टारक के द्वारा विशिष्ट जिनपूजा विधान करने के लिए कहा गया। उनके अनुरूप उन्होंने सब भलीभाँति किया। उसके प्रभाव से धीरे-धीरे सबके मन में प्रसन्नता उत्पन्न हुई। जो श्रावक जिनेश्वरों की पूजा सुविशुद्ध चित्त होकर सदा अष्ट-द्रव्य से पाप का विनाश करने के लिए करते हैं, वे उस अनुत्तर (उत्कृष्ट) सुख को प्राप्त करते हैं।

मल्लप्पाजी पहले से भी अधिक धार्मिक हो गए। अनेक आपदाओं के आने पर भी वह कर्तव्य विमुख नहीं हुए। ''कष्ट मनुष्य के धैर्य की

कसौटी होते हैं। कष्टों से पराङ्मुख कायर होता है और वह लौकिक तथा लोकोत्तर कार्यों के लिए अयोग्य होता है।'' ऐसी दृढ़तर भावना उनके हृदय में हमेशा रहती थी।

सत्य ही कहा है–सूर्य उदय समय पर भी लाल होता है और अस्त समय पर भी लाल होता है। सम्पत्ति और विपत्ति में महान् पुरुषों को एक-रूपता (समभाव) रहती है। श्रीमंती तो विद्याधर को अपनी गोद से कभी भी दूर नहीं करती थीं। विद्याधर भी अपनी क्रीड़ा से माता के मन को प्रसन्न करते रहते थे। पुराने सभी दुख श्रीमंती जी भूल गयीं। दोनों पुत्रों का पालन करते हुए वह प्रसन्न रहने लगी। ''सुख का काल शीघ्रता से चला जाता है'' इस नीति के अनुसार वे दोनों चन्द्रमा की कलाओं के समान वृद्धि को प्राप्त हुए।

इधर मल्लप्पा कृषि और घर के कार्यों को पूरा करके सायंकाल में नियम से घर में ही पुराण आदि पढ़ते थे। कभी-कभी श्रीमंती भी सुनती थीं, जब वह घर के कार्यों से निवृत्त होती थीं। दोनों पुत्र भी बैठकर धर्मामृत का पान करते थे। वर्षायोग में निकटवर्ती गृहस्थों के साथ बैठकर वह प्रथमानुयोग का उपदेश देते थे। शांतिनाथ-पुराण, वरांगचरित, कालिकापुराण इत्यादि वाचना के विषयभूत मुख्य ग्रन्थ थे। देवपूजा आदि छह आवश्यकों का वह नियम से पालन करते थे। जो भव्य जीव जिनबिम्बों का दर्शन करके अन्य (गृह) कार्य करता है, जो दिन में भोजन करता है और शुद्ध जल पीता है, वह श्रावक है। मल्लप्पाजी ने सपरिवार श्रवणबेलगोल तीर्थ के दर्शन के लिए यात्रा की। तब विद्याधर तीन वर्ष के थे। पर्वत के ऊपर सीढ़ी चलते हुए सभी विश्राम करने बैठ गए। अवसर पाकर शिशु विद्याधर सीढ़ी चढ़ने के लिए प्रयास करने लगा। दो-तीन सीढ़ी चढ़कर वह नीचे गिर गया। अचानक सभी आश्चर्य-चकित हो गए। श्रीमंती ने उसको उठाकर अंग-उपांगों का निरीक्षण किया। मल्लप्पा ने श्रीमंती को डाँटते हुए कहा– ''ऐसा प्रमाद कैसे हुआ? यदि उसके अंगों की हानि हो जाती, तो उसका उत्तरदायी कौन होता?'' उसी समय विद्याधर हँसता हुआ खेलने लगा। यह देखकर पिता का क्रोध समाप्त हो गया। उस क्रोध से पिता का अन्तरंग प्रेम

प्रकट हुआ। श्रीमंती ने भी दीर्घ श्वाँस लेकर निश्चिन्तता की अनुभूति की।

उपादान और निमित्त की मैत्री यहाँ पर सहज ही देखी जाती है। विद्याधर ने परिवार सहित गुरुदेव आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के दर्शन किए। दर्शन मात्र से विद्याधर के अन्तस् में क्या घटित हुआ, यह कोई नहीं जान सका। स्वयं विद्याधर भी नहीं जान पाये। सूर्य के उदय होने पर कमल का विकास कैसे? यह सम्बन्ध प्रश्न के योग्य नहीं है। दर्शन करने के पश्चात् सभी ने विनय से 'नमोऽस्तु' की। मल्लप्पा ने निवेदन किया– ''आपके दर्शन से अपूर्व आह्लाद (आनन्द) हुआ है। आज मेरा जन्म सफल हो गया और नेत्र पवित्र हो गए, फिर भी चित्त को पवित्र करने के लिए आपके दिव्य वचन सुनने की इच्छा है।''

जैसा कि–इस पंचमकाल में केवली और श्रुतकेवली का अभाव है इसलिए जो गुरुवचन इस लोक में हैं वह अमृतभूत हैं। तब श्रीगुरु ने उपदेश दिया–धर्म से रहित जीवन बकरे के गले के स्तन की तरह निरर्थक है। धर्म तो सम्यग्दर्शन ही है। उसके लिए श्रद्धा दृढ़तर होनी चाहिए। अनादिकाल से सच्चे धर्म के अलावा सभी ने सब कुछ प्राप्त किया है।

धर्म में श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए श्रीगुरु ने रत्नत्रय के बीज रूप तीन दृष्टान्त सुनाए। उनके उपदेश को धारण करके सभी वापस घर चले गए। कितने ही निकट रहने वाले और घर में रहने वाले लोग विद्याधर को अन्य नामों से भी पुकारते थे। उनमें पीलू, गिनी, मरी इत्यादि प्रमुख नाम थे।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला दिव्यावतरण संज्ञक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

तीसरा सर्ग

यौवनांगन में प्रवेश

घर में भी हमेशा धार्मिक वातावरण रहता था। पिता के मुख से पुराण-पुरुषों की कथाएँ विद्याधर द्वारा बहुत सुनी गयीं। उन कथावस्तुओं (कथानकों) की स्मृति मानस पटल पर स्पष्ट-रूप से बन गयीं। माता तो दोनों पुत्रों को धार्मिक संस्कारों द्वारा निरन्तर पोषित करती थीं। ज्येष्ठ महावीर यद्यपि धार्मिक थे, फिर भी जितनी तीव्र रुचि विद्याधर में देखी गयी उतनी बड़े भाई में नहीं थी। एक दिन माता ने दोनों पुत्रों से कहा- भक्तामर स्तोत्र, जिनसहस्रनाम स्तोत्र और तत्त्वार्थसूत्र दोनों को कण्ठस्थ करना है। निश्चित रूप से जो इन तीन पाठों को पहले सुनाएगा उसको अठन्नी (आधा रुपया) मिलेगी। कुछ दिनों के बाद विद्याधर ने तीनों पाठ माता को पहले सुना दिये। महावीर उसके बाद भी एक साथ न सुना पाए। इस प्रकार विद्याधर के द्वारा माता का मन अत्यन्त मोह लिया गया। पिता की आज्ञा का भी वह शीघ्रता से पालन करते थे। इस कारण से माता-पिता उनसे प्रसन्न रहते थे।

अन्य समय मल्लप्पा सपरिवार शेडवाल गाँव गए। वहाँ चारित्र-चक्रवर्ती उपाधि से विभूषित आचार्य शान्तिसागरजी महाराज विराजमान थे। उनके जीवन का संध्या समय तब चल रहा था। उसके बाद आचार्यदेव समाधि करने के लिए कुंथलगिरी चले गए। तब विद्याधर नौ वर्ष के थे। पुराने वृक्ष का अन्तिम काल ही आगामी नए वृक्ष का बीज वपन करता है।

सत्य ही है-जो क्रियाओं में निपुण है, बुद्धिमान् है और नित्य माता-पिता की सेवा करने वाला है, ऐसा एक ही पुत्र श्रेष्ठ है, जिससे हृदय में सुख बढ़ता है। गुणवान् पुत्र एक ही पर्याप्त है, हजारों निर्गुण पुत्रों से क्या? सच है लोक में एक चन्द्रमा ही श्रेष्ठ है, अपने समूह सहित ताराओं से क्या है? विद्याधर की बुद्धि न केवल धार्मिक पाठों का स्मरण करने में कुशल थी, अपितु लौकिक पाठ पढ़ने में भी थी। इस ही कारण से वह द्वितीय कक्षा को पास करके चतुर्थ कक्षा में प्रविष्ट हो गए। जिस प्रकार उन्होंने गृह में

माता-पिता को प्रसन्न किया था। उसी प्रकार विद्यालय में शिक्षक जनों को प्रसन्न किया था। उनकी बुद्धि की प्रवीणता को जानकर, प्रधानाध्यापक द्वारा तृतीय कक्षा का उल्लंघन करने की स्वीकृति प्रदान की गयी।

सत्य ही है-गुरु सेवा करने से, माता-पिताओं की आज्ञा मानने से और स्वयं के ज्ञानावरण के क्षयोपशम से विद्या उत्पन्न होती है। विद्या प्राप्ति का कोई चौथा कारण नहीं है। विद्यावान लोक में स्वजन और परजन से प्रशंसित होता है। ऐसा पुत्र मुकुटों में मौलि के समान अग्रिमस्थान पर ही रहता है। वह शिक्षा के क्षेत्र में जितने निपुण थे, उतने ही खेल में भी थे। बचपन के मित्रों के साथ वह गिल्ली डण्डा खेलते थे।

गाँव के बाहर एक उच्च स्थान पर एक गुफा थी। उसका नाम 'गुहा मन्दिर' सभी कहते थे और वह मुनिमहाराजों की वसतिका (आवास) भी कही जाती थी। एक बार श्री महाबल नाम के प्रसिद्ध मुनि उसमें बैठे थे। उस गुफा स्थान के नीचे बालकों के खेलने का स्थान था। जहाँ आकर गाँव के बालक विभिन्न खेलों में लग जाते थे। एक समय बालक विद्याधर मित्रों के साथ गिल्ली डण्डा खेल रहे थे। अचानक उनकी गिल्ली ऊपर चली गई। उसको लेने के लिए वह बड़ी कठिनता से गुफा के समीप पहुँचे। गिल्ली को हाथ में लेकर उन्होंने देखा-कोई मुनिराज भीतर बैठे हुए हैं। "रास्ते में स्थित जिन मूर्तियाँ अथवा जिन मुद्रा के धारी मुनिराज सर्वप्रथम वंदनीय होते हैं। दर्शन के बिना उनकी अविनय होती है।" ऐसा शीघ्रता से विचार करके वह अन्दर गये।

सच ही है-गमनपथ पर मिलने वाले जिनालय, साधु और जिनतीर्थों की जो वंदना करके आगे बढ़ता है, वह पुरुष विनय से युक्त होता है। जिसके हृदय में विनय है, वह समस्तजनों के हृदय को वश कर लेता है। उसके हाथ में चिंतामणि है। उस विनयवान जीव के सेवक देव भी होते हैं। अन्दर जाकर उसने देखा कि श्रीमुनि ध्यान में लीन हैं। फिर भी दो क्षण को निर्विकार निस्पृह मुद्रा को बिना पलक झपकाए वह देखते रहे। "मैं महाभागी हूँ, जो ऐसे मुनियों का दर्शन प्राप्त हुआ"। मन में इस प्रकार भलीभाँति सोचकर मुख से 'नमोऽस्तु-नमोऽस्तु' कहा। अचानक भव्य के

भाग्य से मुनिराज ने दोनों नेत्र खोले।'' आगे एक बालक दोनों हाथों को जोड़कर बैठा है–ऐसा देखा। मुनि के मुख कमल को देखकर बालक ने पुनः नमस्कार किया। धर्मवृद्धि हो। इस प्रकार की ध्वनि गुफा में गूँज गयी। फिर भी बालक वहीं पर बैठा रहा। ''इसके मन में अन्य कोई जिज्ञासा है'' ऐसा मानकर श्रीमुनि बोले–बेटा! किसलिए बैठे हो? ''आपके वचनरूपी अमृत को सुनने के लिए''–ऐसा विद्याधर ने कहा।

सच ही है–गुरु की दृष्टि में ही कल्याण है, गुरु आशीष की छाया कल्पवृक्ष के समान है। गुरु के वचन भ्रम को दूर करने वाले हैं। गुरु ने मुझे पूछा है, इसमें स्वर्गसुख है। हाँ, हाँ क्या नाम है तुम्हारा?–ऐसा मनिराज ने पूछा, उसने कहा–''विद्याधर, विद्या होठों पर रहती है, इसलिए विद्याधर सुन्दर नाम है'' श्रीमुनि ने ऐसा कहा। तत्पश्चात् मुनि चुप हो गए।

बुद्धिमानों के साथ वह शतरंज खेलते थे। कन्नड़ भाषा में शतरंज को 'बुद्धिवड' कहते हैं। बुद्धि की निपुणता से शतरंज के खेल में वह अग्रणी हुए। संपूर्ण ग्राम में वयस्क मित्रों के साथ उनकी मित्रता थी। खेल और शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि वह आगे थे, फिर भी अन्य कोई भी इनके प्रति ईर्ष्या धारण नहीं करता था, यह आश्चर्य था। उस ग्राम में एक श्रेष्ठी रहता था। गाँव में रहने पर वह नगर के श्रेष्ठी के समान धनाढ्य था। उनका नाम लोकप्पा था। उनके लिए शतरंज का खेल अत्यन्त पसंद था। किसी व्यक्ति ने कहा–श्रेष्ठिन्! विद्याधर भी शतरंज में सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि वह बालक है तथापि बुद्धिमान् है। मुस्कुराते हुए श्रेष्ठी ने कहा–हाँ वो होवे। इससे क्या?

''एक बार उसके साथ खेलना चाहिए, ऐसा मेरा अभिप्राय है''–उस व्यक्ति ने कहा। श्रेष्ठी ने आश्चर्यजनक कहा–''आप क्या कहते हो? बालक के साथ मैं खेलूँ?'' ''इस विषय में क्या आश्चर्य! बुद्धिबल की परीक्षा के लिए यह खेल होता है। आप सदा ही विजेता हैं। दूसरी बात यह है, कि प्रतिद्वन्द्वी के बिना शिक्षा अथवा खेल आनन्द को उत्पन्न नहीं करते हैं।'' इस प्रकार उस व्यक्ति ने कहा। श्रेष्ठी ने कहा–ऐसी बात नहीं है। बालक के साथ (खेल) क्रीड़ा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि मैं विजयी

हुआ, तो उसके मन में व्यथा (दुख) होगी। यदि वह विजयी हुआ, तो वह मेरे लिए उचित नहीं होगा।

''अरे श्रेष्ठिन्! बालक के साथ खेलने के विषय में इतना ज्यादा क्यों सोच रहे हो? यह विषय जय और पराजय का नहीं है। खेल तो खेल ही है। यह जुआ नहीं है। यह तो बालक के उत्साहवर्धन के लिए कौतुक मात्र है।'' ऐसा उस व्यक्ति ने कहा। ''ठीक है...इस प्रकार हो'' ऐसा कहकर श्रेष्ठी ने स्वीकृति दे दी। विद्याधर के उस मित्र ने प्रसन्नतापूर्वक यह वृत्तान्त उनसे कहा। ''अरे मित्र यह तुमने क्या किया? मैं बालक हूँ और वह नगर श्रेष्ठी। उनके साथ क्रीड़ा कैसे शोभा को प्राप्त होगी?'' ऐसा विद्याधर ने कहा। ''नहीं, नहीं यह विषय कौतुक मात्र का है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं है, अपितु यह तो बुद्धि की परीक्षा मात्र है। स्वार्थ के लिए मत करो, यह तो मित्रता के लिए करो।'' ऐसा मित्र ने विचार रखा। 'हाँ' इस प्रकार सहज स्वीकृति विद्याधर के द्वारा दी गयी।

उसी मित्र ने यह समाचार मित्रों के समुदाय में भेज दिया। दूसरे दिन सभी मित्र श्रेष्ठी के घर समय पर आ गए। निकट रहने वाले कुछ खेलप्रिय और कुछ कौतुकप्रिय अन्य व्यक्ति भी वहाँ एकत्रित हो गए। खेल प्रारंभ होने से पहले ही मित्र वर्ग ने कहा–आप दोनों की हार जीत में हम लोगों को क्या मिलेगा? विद्याधर ने आँखें नीचे कर लीं कुछ नहीं कहा। सभी के ऊपर दृष्टि डालकर मुस्कुराते हुए श्रेष्ठी ने कहा–जिसकी विजय होगी वह फल वितरण के द्वारा मित्र-मण्डल को संतुष्ट करेगा। ''ऐसा ही होगा'' ऐसी विद्याधर के द्वारा स्वीकृति दी गयी।

खेल प्रारंभ हुआ। सभी के मन में अत्यन्त उत्साह देखा गया, कि किसकी विजय होगी। उसके बाद श्रेष्ठी ने अपनी बुद्धि से विद्याधर को घेरा। श्रेष्ठी के मुख पर हर्ष की किरणें फैल गयीं। सभासदों ने तालियाँ बजायीं। इधर विद्याधर फिर भी अधीर नहीं हुआ। अवसर पाकर उसने दूसरी बार घोड़े का पाशा उठाकर आगे यथास्थान पर रखा। घोड़े की तिरछी गति को जानकर श्रेष्ठी चिन्तामग्न हुआ। अब कोई भी अवसर नहीं रहा। विद्याधर के द्वारा राजा बन्दी बना लिया गया। एक चाल में ही सब

विपरीत हो गया। मन ही मन में हँसते हुए उस बालक ने थोड़ी-सी दृष्टि उठाकर श्रेष्ठी को देखा। श्रेष्ठी ने भी उनके मुख को देखकर हँसते हुए कहा-''खेल समाप्त हो गया। विद्याधर विजयी हुआ।'' वहाँ स्थित सभी लोगों ने विद्याधर को अपनी भुजाओं में लेकर स्वागत किया। इसके बाद विद्याधर ने श्रेष्ठी के चरणों का स्पर्श करते हुए कहा-''आपके आशीर्वाद से ही ऐसा हुआ।''

बालक की निरभिमानता और विनम्रता का अनुभव कर श्रेष्ठी ने उसको गले लगा लिया और 'खूब बढ़ो, खूब बढ़ो' आशीर्वचन कहे। ''सभी दर्शकों को फल दिए जायें'' ऐसा श्रेष्ठी ने आदेश दिया। विद्याधर के साथ वह भोज में अनुरक्त हुए। इसके बाद विद्याधर अपने घर चले गए।

विद्याभ्यास और क्रीड़ा बालकों के लिए हितकारी मानी गई है। अति लालन, अति धन और स्वच्छन्द होना बालकों के लिए अहित करने वाला माना गया है।

जो तत्त्वार्थसूत्र सदृश महान् ग्रंथ को पढ़ने में समर्थ है और जो बिना देखे वाचस्पति के समान सूत्रों का वाचन कर सकता है, जो मुनि रूप के दर्शन मात्र से ऐसे प्रसन्न होता है, जैसे मेघों के दर्शन से मयूर समूह प्रसन्न हो जाता है, जो घर में रहते हुए भी भरत के समान अनासक्त है, जो दीर्घ समय से दीक्षित योगी के समान ललितांगना के हाव-भाव विलासों से विकारी नहीं होता, जैसे नमक रस सभी रसों में घुलकर अपूर्व स्वाद को देता है, उसी तरह वह बाल-युवा वृद्धों में जुड़कर अपूर्वता को धारण करता है, जो श्रमण के समान अपने क्षेत्र में ही श्रमशील है, जो वयोवृद्ध के समान दूसरों के वैभव में गृद्धि रहित है, जो राज्यकाज में कुशल राजा की तरह शतरंज के खेल में चतुर है, इत्यादि अनेक गुणों से भरे हुए बालक को स्वर्ण पात्र के समान बहुमूल्य वस्तु की तरह कौन नहीं चाहेगा? जो बहुमूल्य वस्तु का ग्राहक है, वह भी महान् है, इसमें कोई संशय नहीं है।

उसके बाद उस गाँव में ही आचार्य-देव ने वर्षायोग स्थापित किया। उपदेश सुनने में, आहार देने में, शयन-आसन के समय, विहार निहार के समय और संघ के मध्य विद्याधर सदा उपस्थित रहते थे। आचार्यसंघ के

वात्सल्य से वह सिंचित हुए वृद्धि को प्राप्त हुए।

इतने मात्र से ही विद्याधर आह्लादित होकर 'नमोऽस्तु' निवेदित करके चले गये। आज खेल में पारमार्थिक आनन्द हुआ। हर्षपूर्वक सारी घटना मित्र जनों को बतलायी। घर में भी माता की साड़ी खींच-खींच कर सब कुछ कहा। दूसरे दिन वह फिर वहीं गये। ऐसा करके परिचय बढ़ गया। कभी आहार चर्या के समय आहार देने के लिए गये। मुनिराज भी धर्म के प्रति उसकी रुचि देखकर उसको समय देते थे। विद्याधर ने भक्ति पाठादि मुनिराज के समीप सीखे।

सच ही है–जो निर्ग्रन्थ गुरु का सेवक है, उसको यहाँ भी अभ्युदय सुख होता है। उसे परलोक की क्या चिंता? सुगुरु भवसमुद्र के तारक हैं। जो स्वयं निरीह होकर रहता है और मोक्षपथ पर अन्यों को प्रवर्तन कराते हैं, ऐसे स्व-पर को तारने वाली नौका गुरु के समान अन्य कोई बंधु नहीं है। पारसमणी तो लोहे को स्पर्श करने पर स्वर्ण बनाती है, किन्तु गुरु धीरे-धीरे शिष्यों को अपने समान ही बना लेते हैं।

विद्याधर के पश्चात् कुछ वर्ष व्यतीत होने पर क्रमशः दो पुत्रियाँ उस गृह में उत्पन्न हुयीं। एक का नाम शान्ता था और दूसरी का सुवर्णा। ब्राह्मी-सुन्दरी के समान दोनों में सौन्दर्य कलानिपुणता और वैदुष्य था। घर में पुत्रियों के बहाने लक्ष्मी सरस्वती के समान दोनों अवतार साक्षात् हुए। ज्येष्ठ भाइयों के प्रेम से सिंचित हुईं दोनों वृद्धि को प्राप्त होने लगीं।

एक बार विद्याधर छोटा आग्नेय अस्त्र पटाखे खरीदकर लाया। उसको कैसे जलाना चाहिए, वह यह नहीं जानता था। उसको उल्टा पकड़कर जला दिया। जिससे उनका स्वयं का हाथ ही अग्नि से जल गया। अरे! यह क्या हो गया? एक ओर तो पैसा खर्च हो गया। दूसरी ओर हाथ भी जल गया। यदि घर में कहूँगा तो डाँट का पात्र भी बनूँगा। ऐसा सोचकर वह चिन्तित हो गए। इस दशा को देखकर किसी निकट व्यक्ति के द्वारा उस हाथ में तेल के साथ लाल-मिर्ची का लेप किया गया। कुछ दिनों के बाद वह पहले जैसा हो गया। भविष्यकाल में उन्होंने देह और धन की हानि का विचार कर, दोबारा ऐसा कार्य नहीं किया। जो पर की हानि का विचार

करके शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह ज्ञानी माना जाता है, जो दूसरे के माध्यम से शिक्षा नहीं लेता है, वह अज्ञानी मानना चाहिए।

अन्य समय घर में धान्यादिक रखने के स्थान को उन्होंने देखा- कोने में बड़ा बिल है। कोई तुरन्त उत्पन्न हुआ चूहा वहाँ गिर गया। अपने देह के संकोच-विस्तार में भी वह असमर्थ प्रतीत होता था। उसको अपने हाथ में लेकर विद्याधर देखने लगा। अरे! इसके शरीर में तो अन्य जीव भी उत्पन्न हो गये हैं। इस कारण से इसे बहुत पीड़ा है। इसलिए उन्होंने चूहे के शरीर से जीवों को निकाल-निकाल कर उसको जीवित किया। उसी समय श्रीमंती जी आ गयीं। विद्याधर क्या करते हो? इस प्रकार उन्होंने कहा। उस दृश्य को देखकर वह बोलीं-''पुत्र! तिर्यंचगति दुख की योनि है। इस प्रकार से जीव इस संसार में सदा ही दुख उठाते हैं।'' यह सुनकर विद्याधर ने उस चूहे को ऊपर के स्थान पर रख दिया, जिससे अन्य जीव उसे पीड़ा न पहुँचा पायें। भव्यों के हृदय में स्वाभाविक दया होती है, ऐसा श्रीमंती ने विचार किया।

धर्म का मूल दया में प्रवृत्ति करना है। वह धार्मिक है, जो दया हृदय वाला है। सभी तीर्थ में जाना और धर्म के लिए दान देना, यह सब कुछ बिना दया के निरर्थक है। बालों में, वृद्धों में, दुर्बलों में, पीड़ा से दुखी चित्तों में, निराश्रय जीवों में, अभावग्रस्तों में, ग्लान और स्थविर (रोगी और अतिवृद्ध) में जिनको दयाभाव नहीं आता है, वे मनुष्य नहीं हैं।

जब विद्याधर विद्यालय में जाते थे, तब नित्य ही अध्यापक महोदय के चरण छूकर पढ़ाई प्रारंभ करते थे। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग तो ऊपर की कक्षा में था। आठवीं कक्षा में प्रवेश के समय उनको सिखाया गया-''क्या मैं आ सकता हूँ?'' (मे आई कम इन सर) और ''क्या मैं बाहर जा सकता हूँ?'' (मे आई गो आउट)

वर्षायोग के समय सचित्र (चित्र सहित) पुराण पढ़ने के लिए उत्साहित रहते थे और जिनके आवरण पृष्ठों के चित्र अच्छे और मनोरंजक होते थे, उनको बाजार से घर में लाकर पढ़ते थे। रात में आठ बजे मन्दिर से घर आते थे, उस समय सभी सोने वाले निद्रा देवी की आराधना करते थे। जिनवाणी

का रसिक तब तक अति रुचि से पिता से पुराण के चरित्र को सुनकर धर्म की आराधना करते थे। उन्होंने उन घटनाओं को बुद्धि में अच्छी तरह धारण कर लिया। कालिकापुराण के तथा श्रेणिकपुराण अभयकुमारादि के आख्यान उनके स्मृति-पटल पर सदा स्थिर हो गए।

ग्राम में घटी कोई भी घटना तथा इधर-उधर घटी घटनायें भी उनको संसार से वैराग्य उत्पन्न करतीं थीं। विद्यालय में पढ़ते समय अनेक छात्र उनके साथ पढ़ते थे। उनमें बहुत से निर्धन थे। उनमें एक कोई धीवर का पुत्र पढ़ता था। वह भूख से पीड़ित होकर मर गया। ''अरे! मनुष्यगति में भी मनुष्य भूख से पीड़ित होकर मर जाता है, तिर्यंच गति का क्या कहना? नरक गति में तो हमेशा भूख रहती है। यह संसार विचित्र है।'' ऐसा उस समय सोचकर विद्याधर दुखी हो गये थे।

सत्य ही है—नरकगति में छेदन-भेदन का दुख है, तिर्यंचों में वध (मारने) का दुख है, देवगति में राग का दुख है और मनुष्यों में बहुत विपत्ति देखी जाती है।

एक बार कभी एक मनुष्य वृक्ष के ऊपर कुछ कर रहा था। वहाँ एक सर्प भी बैठा था। साँप ने डँस लिया और वह भूमि पर गिर गया। वहाँ के लोगों ने शीघ्र आकर के उसका ठंडे जल से भली प्रकार स्नान किया। कुछ समय व्यतीत होने पर वह उठ गया। मृत्यु से भयभीत विद्याधर इस घटना को अच्छी तरह देखकर संसार से भयभीत हो गये। वह चिन्तन करने लगे—''न केवल मनुष्य अपने द्वारा किए कर्म से दुखी है, अपितु तिर्यंचों के द्वारा भी दुखी होते हैं। गाँव में एक धनी व्यापारी रहता था और वह संपूर्ण जनपद का सर्वश्रेष्ठ धनी था। कर्म के योग से उसका घर-बाजार और उद्योग-गृह सभी धीरे-धीरे बिक गए। कुछ समय पश्चात् वह उद्योगी व्यवसायी योगी (फकीर) हो गया। अब उसके पास एक भी पैसा न था। वह भूखा अपने नौकरों के घर में जाकर भोजन ग्रहण करता था। रात में वह अपने घर के अभाव में खुले आकाश में टकटकी लगाकर देखता था। उसकी ऐसी दीन दशा विद्याधर ने देखी। ''कोई भी विधि के विधान को नहीं जानता, किस क्षण में क्या हो जाए। दु:खित होते हुए भी जीव दुख

मुक्ति का उपाय नहीं सोचता'' ऐसा विस्मय उनके मन में उत्पन्न हुआ।

जो पर के दुख में कातर (भीरु) जीव है, जो परदुख को अपने समान मानता है। उस दुख से वैराग्य किन्हीं विरलों को उत्पन्न होता है। उस समय उनके द्वारा चलचित्र भी देखे गए। पहले मूक चलचित्र चलते थे। संत ज्ञानेश्वर की कथा उनके द्वारा चित्र में देखी गई। ''दो आँखें बारह हाथ'', ''गीत गाया पत्थरों ने'' इत्यादि चलचित्र देखे। कालिका-पुराण में पिता के मुख से उन्होंने सुना, कि प्राचीनकाल में औषधि-ज्ञान चरम सीमा पर था। कोई जंघा को चीरकर रत्नों को रखकर औषधि लेप से ऊपरी त्वचा समान कर लेते थे। त्वचा में कुछ भी प्रतीत नहीं होता था।

कभी नदी किनारे, कभी सरोवर के समीप बैठकर, वह पत्थरों को जल में फेंकते थे। इससे जल में अनेक तरंगे उत्पन्न होती थीं और गोल आकृति बनती थीं। उन आकृतियों को गिनने के लिए उद्यत हो जाते थे। गिनने में अशक्त होते हुए भी वह पुनः पुनः उसी प्रकार करते हुए, कुछ समय तक वहाँ बैठते थे। ''इस संसार में समस्त वस्तुएँ तरंगों के समान तीव्र गति प्रवाहमान हैं। काल के सतत प्रवाह को कोई भी नहीं गिन सकता।'' इस प्रकार सोचकर वह लौटता था।

नवमीं कक्षा में कागज की विभिन्न आकृतियाँ बनाकर ज्यामिति गणित का उसके द्वारा आकलन किया जाता था। कभी माचिस की तीलियों की आकृति के खेल से बुद्धि बल को बढ़ाते थे। जल में तरंगों के समान निश्चित ही पर्यायें उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती है। द्रव्य और उनके गुण स्थिर (नित्य) होते हैं, यह विरले ही जानते हैं।

बालक विद्याधर की बाल्यकाल से ही चित्रकला में भी अभिरुचि थी। एक दिन विद्याधर ने पिता के समक्ष याचना की, कि मैं चित्र बनाने के लिए अनेक रंग (वाटर कलर) चाहता हूँ। पिता ने कहा-''क्या तुमने कभी एक चित्र भी बनाया है? या बिना मतलब के पैसा व्यर्थ करना चाहते हो। पहले तो इस पेन्सिल से चित्र बनाओ बाद में दूसरी (रंग की) बात करना।'' यह सुनकर विद्याधर ने दो घण्टे में अश्व पर बैठे हुए शिवाजी महाराज का चित्र बनाया। उसे देखकर पिताजी प्रसन्न हुए। तब उनके लिए वाटर कलर

भी खरीदे। उन रंगों से विद्याधर ने और भी चित्र बनाये, जिन्हें घर में कमरे की दीवाल पर विद्याधर द्वारा बनाया गया चित्र लगा दिया गया।

बालक विद्याधर हमेशा निकट स्थित मुनियों के दर्शन के लिए जाता था। बाल्यकाल से उन्होंने बहुत से साधुओं के दर्शन किए और उनके प्रवचन भी सुने। एक बार श्री आदिसागर मुनि के दर्शन के बाद एक दृष्टान्त भी सुना। वह इस प्रकार है–किसी मठ में एक भट्टारक रहता था। निरन्तर उसके भक्त वहाँ आना जाना और दर्शनादिक करते थे। एक दिन कोई श्रेष्ठी घोड़े पर चढ़कर मठ में आया। घोड़े को बाहर खड़ा करके वह मठ में गया। भट्टारक ने घोड़े को देखा, वह घोड़ा बहुत ही मनोहारी था। उसी समय भट्टारक ने श्रेष्ठी के साथ दान के लिए वार्तालाप किया। श्रेष्ठी ने सहमति दे दी। श्रेष्ठी नहीं जानता था, कि दान में भट्टारक क्या माँगेगा? इसलिए श्रेष्ठी ने कहा–आप क्या चाहते हैं? भट्टारक ने तब कहा–बाहर स्थित घोड़ा। श्रेष्ठी चकित हो गया। तत्पश्चात् वह घोड़े को देने के लिए सहमत नहीं हुआ। भट्टारक के द्वारा बहुत प्रकार से उससे घोड़ा माँगा गया। अन्त में कोई अन्य उपाय विचार कर, उस भट्टारक ने नाटक किया। वह बार–बार उठ–उठ कर भूमि पर गिरने लगा और ऊँचे स्वर में आक्रन्दन करने लगा। मेरे ऊपर किसी देव का प्रकोप हुआ है। वह देव भी अश्व की प्रार्थना करता है। यदि नहीं दोगे तो वह श्रेष्ठी के परिवार को अनेक प्रकार से क्लेश उत्पन्न करेगा। श्रेष्ठी ने नहीं चाहते हुए भी घोड़ा प्रदान कर दिया। वैमनस्य मन से श्रेष्ठी घर आ गया। युक्ति से विचार कर दो दिन के बाद वह सेठ मठ में पुनः आ गया। उस समय भट्टारक के उपदेश का समय था। सभा के बीच में आकर श्रेष्ठी ने भट्टारक के समान सभी प्रकार की चेष्टायें कीं और कहने लगा–मेरे ऊपर देव आकर भट्टारक का उत्तरीय (दुपट्टा) चाहता है। भट्टारक ने सोचा–अरे! मेरा दुपट्टा बहुत कीमती है। इस कारण से ही वह देव उसे चाहता है। तब वह आदेश देता है–''अपना घोड़ा ही ले जाओ दुपट्टा नहीं दूँगा।'' देव शान्त हुआ। श्रेष्ठी घोड़े को अपने घर ले आया। अन्त में श्री मुनि शिक्षा देते हैं–जैसे को तैसा फल मिलता है। जबरदस्ती दूसरे की वस्तु ग्रहण नहीं करना चाहिए। अति लोभ से बुद्धि की

हानि होती है। सच ही है–स्त्रियों के, राजाओं के, चोरों के, धूर्तों के और लोभ सहित पुरुषों के कपट को जो जानता है, वह भगवान माना गया है।

मुनिगण के दर्शन के लिए विद्याधर हमेशा बिना वाहन के ही अन्य गाँव को अकेले ही जाते। ज्येष्ठ मास में भी पैदल यात्रा के द्वारा साधुओं के प्रवचन के लिए और वार्षिक महोत्सव देखने के लिए गमनागमन करने लगे। बाल्यकाल में मोर के पंखों का समूह उनके मन को प्रसन्न करता था। सदलगा ग्राम से ४-५ किलोमीटर दूर 'बेडकिहाळ' ग्राम है। वहाँ पर किन्हीं मुनिराज ने समाधि ग्रहण की थी। विद्याधर उनको देखने के लिए वहाँ गये। दाह-संस्कार से मुनि की देह को समाप्त किया। दक्षिणपथ में एक प्रथा प्रचलित है कि समाधि के होने पर मुनि की मयूर पिच्छिका को खण्डित करके अग्नि में जला देते हैं। ऐसा करने पर वहाँ कुछ पंख इधर-उधर गिर गए थे। विद्याधर उन्हें इकट्ठा करके घर ले आये। पुस्तकों में रखकर उनकी सुरक्षा की। ऐसा करने से विद्या आती है, ऐसा मानकर वह संतुष्ट हुए। जन्म से ही मयूर पंखों के प्रति उनका प्रेम उनके हृदय में संयम के प्रति प्रेम को प्रकट करता था।

स्त्रियों के लिए इमली मधुर है, बलवान् पुरुषों के लिए दुग्ध मधुर है, संयमियों को बर्हीं (मोर पंख) के प्रति स्नेह होता है तथा ज्ञानियों का स्नेह पुस्तकों में होता है। दसवर्षीय विद्याधर घर में बताए बिना ही आचार्य देशभूषण के दर्शन के लिए चले गए। आचार्य श्री सदलगा ग्राम में आकर ठहरे थे। पिता के मना करने पर भी वह जबर्दस्ती दर्शन के लिए गये। आचार्यश्री के द्वारा बालकों का मूँजी संस्कार किया जाता था। वह संस्कार बारह वर्ष के उपरांत ही प्रायः किया जाता था। आयु में कम होने पर भी विद्याधर उनके द्वारा संस्कारित किए गए। बालक की मन को मोहने वाली, रूप को बहाने वाली और धर्मसम्बन्धी तीव्र रुचि उसका कारण थी।

जो कुल-रूप से अधिक है, जो साधुसेवा से भरा हुआ है, उससे भी अधिक धर्म पढ़ने में रुचि रखने वाला है, वह निकट भव्य होता है। हृदय पर यज्ञोपवीत धारण करना, शिर का मुण्डन करना, अधोवस्त्र ओढ़ना, दूसरों के घर जाकर माँगकर भोजन करना इत्यादि उस संस्कार की नियम पद्धति

प्रचलित थी।

सच ही है–आठ वर्ष के बाद जीव सम्यक्त्व और संयम को ग्रहण करने के लिए नियम से समर्थ हो जाता है, फिर अन्य नियमों की क्या बात? सदलगा ग्राम में अनन्तकीर्ति महाराज विराजमान थे। उस समय ही नांदनीग्राम के भट्टारक जिनसेन आये। उनके आने के समय गाँव की सजावट विवाह काल के समान की गयी। उनके साथ क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति (वर्तमान में आचार्य विद्यानन्द) और भद्रबाहु महाराज भी आये। भट्टारक का ऊँचा आसन बनाया गया। महान् राजा की तरह उनका स्वागत और शय्यासन शोभित हुआ। मुनिराज ने भी वैसा ही अनुकरण किया। गुणगान और यशकीर्ति भट्टारकों की ही हुयी। इस प्रकार जो देखा वह भी धारणा का विषय बन गया। उस समय विद्याधर तेरह वर्ष के थे।

तीक्ष्ण बुद्धि की विशेषता से विद्याधर जो कुछ भी देखते थे, वह उनके मानस में शाश्वत हो जाते थे। जब विद्याधर ११–१२ वर्ष के थे, तब किसी ने उनसे पूछा–बड़े होकर क्या बनोगे? मैं नौकरी नहीं करूँगा। मैं तो बड़ा व्यापार करूँगा। किसी ने कहा–कृषि कार्य करना चाहिए, क्योंकि पूर्वजों से चला आ रहा धर्म है। विद्याधर ने कहा नहीं, मैं कृषि नहीं करूँगा, क्योंकि उसमें भी हिंसा होती है। सन् १९६१ ई० में आचार्य अनन्तकीर्ति के शिष्य क्षु० श्री जयकीर्ति सदलगा ग्राम में वर्षायोग करने के लिए ठहरे। उनकी संगति में आकर ही विद्याधर ने चाय का त्याग किया। उस समय विद्याधर की उम्र पन्द्रह वर्ष की थी। पन्द्रह वर्षीय विद्याधर वाचनालय में जाकर महापुरुषों की आत्मकथाओं को पढ़ते थे। उन्होंने शिवाजी, कित्तूरचन्नमा, टीपूसुल्तान, गाँधीजी, रवीन्द्रनाथटैगोर, विनोबाभावे, ईश्वरचन्द्रविद्यासागर इत्यादि पुस्तकें पढ़ीं। पढ़ करके वह उस विषय की कथा को छोटे भाई–बहनों को सुनाते थे। उसके अलावा उन्होंने महादेवी शांतला, दानचिन्तामणि, भद्रबाहुचरित्र इत्यादि पुस्तकें भी पढ़ीं।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला यौवनाङ्गण प्रवेश संज्ञक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।

चौथा सर्ग

निरापद पथगमन

सुहृदय वाले व्यक्ति के अच्छे मित्र होते ही हैं। धार्मिकों के मित्र धर्म परायण होते हैं, व्यसनियों के निश्चित रूप से व्यसनी मित्र होते हैं। जैसी दृष्टि अन्तस् में होती है, वैसी ही सृष्टि की रचना बाहर होती है। मानसिक विकार से युक्त लोगों की संगति भी दुर्जनों के साथ होती है। शिष्ट लोगों की संगति शिष्टों के साथ होती है। इसलिए संगति ही मनुष्य के हृदय को कहती है और उसकी भविष्य की भव्यता को भी निर्धारित करती है। माता के संस्कार के उपरान्त मित्रों से उत्पन्न संस्कार जीव के संपूर्ण जीवन की उन्नति और अवनति के हेतु होते हैं। विद्याधर के मित्रों के नाम अण्णादो, शिवकुमार, मारुति, पारिसा, अण्णाओ, राजेन्द्र और जिनगौड़ा इत्यादि थे।

जिनके जिस प्रकार के विचार होते हैं, उनके उसी प्रकार के मित्र होते हैं। मित्र यौवन काल में स्वभाव से उद्धार भी करते हैं और पतित भी कर देते हैं। बालपन में, शिक्षाकाल में माता-पिता सहायक होते हैं, दीक्षित होने पर गुरु सहायक होते हैं, धर्म परलोक में सहायक होता है, किन्तु मित्र सदा सहायक होते हैं। लोग, बंधु, परिवार, धन-धान्य और वैभव होवे अथवा नहीं होवे, कोई बात नहीं है, किन्तु मित्र सदा बनाना चाहिए।

गाँव अथवा नगर सभी जगह सभी प्रकार के जीव रहते हैं। उनकी चयन-पद्धति अपने मन के अनुरूप होती है। विद्यालय में भी विद्याधर के अच्छे मन वाले मित्र थे। बहुत से लोगों में भी उसके एक या दो मित्रों से निकटता थी। मारुति उनमें से एक था। वह उस ही गाँव का निवासी था। इस संसार में देखा जाता है, कि जैसे सभी जन भोजन-पान और मनोरंजन के विषय में सभी सहायक होते हैं, परन्तु विपत्ति और धर्म कार्यों में नहीं। विद्याधर का मित्र वैसा नहीं था। जिनालय में वन्दना, पूजन, भक्ति कार्यों में और गाँव से बाहर साधु-समाधि-दर्शन, प्रवचन, विधानों में मारुति साथ-साथ जाते थे और रात में स्वाध्याय के समय भी वह विद्याधर के साथ बैठते और सुनते थे। विद्याधर स्वाध्यायादि कभी घर में, कभी जिनालय में करते थे।

वहाँ ही 'कल्लबस्ती' (प्रस्तरमन्दिर) है। वह सौ वर्षों से अधिक प्राचीन है। बहुत बड़ी-बड़ी दीवारों से निर्मित पूर्ण रूप से बड़े-बड़े पत्थर के खण्डों से रचित ऊँचे शिखरों से युक्त महाराजा के महाप्रासाद (महल) के आँगन के समान आँगन युक्त, लहराती हुई ध्वजाओं से दूसरों को बुलाती हुई के समान सुर, असुर, नाग आदि भवनवासी देवों के द्वारा देखने योग्य और रमणीय वह मन्दिर भव्यों के मन को आकर्षित करने वाला है।

सच ही है-जिनालय में अरिहंत के बिम्ब भव्यों का हित करने वाले हैं, यह जानो। मनुष्य और सुरेन्द्रों के द्वारा पूज्य वह बिम्ब भव्य जीवों के लिए एकमात्र शरण हैं।

विद्याधर उस मन्दिर में जाकर ध्यान करते थे। कभी रात में ९ बजे घर आते थे। उस समय तक गाँव में विद्युत व्यवस्था नहीं थी। रात में ९ बजे के बाद घोर अन्धकार व्याप्त हो जाता था। इसलिए गाँव में आवागमन रुक जाता था। जब चलचित्र को देखकर लोग घर में प्रवेश करते थे, तब उनके साथ वह भी प्रवेश करते थे, क्योंकि मध्य रात्रि काल में कुत्तों के आतंक के कारण-गमनागमन निरुद्ध रहता था। किसी अन्य सामाजिक मंदिर में वह शास्त्र को सुनते थे, कभी वो स्वयं पढ़ते थे। कभी मित्रों के साथ और कभी अकेले रहते थे। मन्दिर में भरतेश वैभव पढ़ते थे तथा घर में मूलाचार भी पढ़ते थे ऐसा महावीर के द्वारा देखा गया। अन्नासाहेब पाटिल अपने घर में शास्त्र श्रवण के लिए कभी कभी विद्याधर को बुलाते थे। एक दूसरा मित्र भी था। उसका नाम 'जिनगौड़ा' था। इस गाँव से एक किलोमीटर दूर उसका निवास स्थान बना था। वह भी निश्चित रूप से विद्याधर के समान वैराग्यवान था। खेत में उन्होंने पृथक् रूप से अपना आवास बनाया था। दिन में अवसर न मिलने पर प्रायः वह शाम को विद्याधर के पास जाता था। कभी रात में हाथ में लालटेन लेकर आते जाते थे। आकर वह उनके साथ जिनालय में भजन करता था, उसके पश्चात् स्वाध्याय, ध्यान, तत्त्व-चर्चादि करते थे।

जगत् के अंधकार को नष्ट करने के लिए जिनवाणी एक महा-दीपक है। जिनवचनों को पढ़ने वाला आत्मस्वरूप के प्रकाश को अवश्य

प्राप्त करता है।

विद्याधर मित्र की साइकिल चलाते थे। जबकि साइकिल चलाना कठिन कार्य था, फिर भी उन्होंने बार-बार प्रयोग से सफलता प्राप्त कर ली। कभी गिरने से उनकी अस्थि अपने स्थान से उतर गई। अपने स्थान पर आ जाने पर भी भुजा में कुछ वक्रता आ गयी। पतन भी उत्थान का कारण है, ऐसा मानकर उन्होंने साइकिल चलाना नहीं छोड़ा। पहले से भी अधिक रुचि के कारण वह उसको चलाने में निपुण हो गए। दोनों हाथ ऊपर उठाकर वह उसे चलाते थे। किसी दिन साइकिल चलाते समय पैडल के द्वारा पैर के अंगूठे का नख वहाँ ही ठोकर के द्वारा अन्दर की ओर हो गया। आज तक वह वैसे ही अन्दर की ओर बढ़ता है और पीड़ा देता है।

अहो! राजा भी नख के समान अपने कुल में उत्पन्न प्रियजनों को भी उखाड़ देता है, यदि वह लोग राजा को पीड़ा देने लगते हैं और अपने रास्ते से स्खलित हो जाते हैं। यह तो राजा के समान महाराजा होकर भी अपने आश्रितों को उखाड़ कर नहीं फेकेंगे। इस प्रकार वह विद्याधर राजा से भी अधिक श्रेष्ठता और क्षमा भाव को व्यक्त करता है।

एक बार वे तीनों मित्र श्री वीरसागर महाराज की समाधि-दर्शन के लिए गाँव से बाहर गए। मुनिराज का जन्म स्थान 'बोरग्राम' था। वहाँ ये मित्र समाधि की क्रिया को करके और देखकर पुनः वापस आ गए।

जिस कमरे में महाराज समाधि के लिए स्थित थे, वहाँ ही जाकर तीनों बैठ गए। चरणों का स्पर्श करके विद्याधर ने अपने छोटे-छोटे हाथों से सहलाना प्रारंभ कर दिया। कुछ समय तक कानों में नमस्कार मंत्र मधुर रीति से सुनाया। मुनि महाराज के अंतरंग को जानकर, उन्हें परमानन्दस्तोत्र सुनाया। उस समय श्रीमुनि के मुखरूपी कमल पर हृदय की विशुद्धि वृद्धिंगत होती देखी गयी। उन्हीं की सेवा पूरे समय तक करते एक दिन के बाद समाधि हो गयी। वे समाधि की क्रिया संपूर्ण करके व देखकर पुनः घर आ गए।

स्थानीय गाँव में भी साधुओं का गमन-आगमन हमेशा होता रहता था। कितने ही साधुओं की वर्षायोग स्थापना वहाँ सम्पन्न हुई। एक दूसरे

मुनि भी आदिसागर जी थे, जो शेडवाल के थे। गाँव में उनका आगमन अधिकतर हुआ। कभी एक माह, कभी दो माह, इतने समय तक उनका निवास भी रहा था। वह मुनि निश्चित रूप से बहुत विचक्षण थे और सरकारी न्यायालय में पब्लिक प्रोसीक्यूटर के रूप में पहले कार्यरत थे। उनके प्रवचनों में अभिनव सरल प्रासंगिक दृष्टान्तों की मुख्यता रहती थी। इस कारण से प्रवचन के समय बहुत भीड़ इकट्ठी होती थी। विद्याधर आदि तीनों मित्र उनके सान्निध्य में रहते थे। भक्ति और भाव विशुद्धि के द्वारा दर्शन आदि क्रिया करने पर उन मित्रों के मन के विकार कलुषता नष्ट हो जाती है।

जिनवाणीरूपी गंगा में, जो स्वयं अवगाहन करता है और दूसरे को भी वह देता है, उसके द्वारा ही तीर्थ-प्रवाह होता है, वह उपकारी मुनि ही ध्येय है। अन्य किसी समय विद्याधर घर में किसी को बताए बिना पंचकल्याणक महोत्सव के लिए ५० कि० मी० दूर 'मांगूरग्राम' मित्रों के साथ चले गये। लौटते समय तेज वर्षा आ गयी। सभी जगह नदी-नालिकाओं के भरने का प्रकोप हो गया। यातायात के मार्ग भी पूर्णतया बन्द हो गए। पुराने घर उस समय भूमि में दब गये। नाव में बैठकर, स्वयं नाव को चलाकर, जिस किसी तरह घर आये। पिता के क्रोध से डरकर, वह उनके सामने नहीं गये। एक-दो दिन बीत जाने पर सब सहज हो गया।

सच ही है-जो पंचकल्याणक आदि जिन महोत्सव को देखने के लिए जाता है, उसके सभी अमंगल विनष्ट हो जाते हैं और मंगल होता है।

उस समय तक विद्याधर का एक अन्य भाई भी हो गया। उसकी आयु की स्थिति अत्यन्त अल्प थी। उसका नामकरण संस्कार मात्र हुआ। उसका नाम धनपाल कहा गया। कुछ वर्ष पश्चात् दूसरा भाई भी हुआ। वह भाद्रमास की अनन्त चतुर्दशी से कुछ समय पहले जन्म लिया। इसलिए उसकी प्रसिद्धि अनन्त नाम से हुई। सभी महीनों में भादों का माह अच्छा (कल्याणकारी) है। इस माह में श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा की जाने वाली पूजा के मंगल-गान से जिनालय गूँजते रहते हैं। इस माह में सर्वत्र सब प्रकार से समस्त लोक के कल्याण की परम्परा को वैभव सम्पन्न करने के लिए धर्म-जल की वृष्टि होती है। अनन्तजित् तीर्थंकर की देह की भस्म

से विशिष्ट पुद्गल परमाणु के पिण्ड को मानो एकत्रित किया हो, इस तरह वह भासुर देह वाला शिशु अनन्तनाथ सुशोभित होता था। दो वर्ष पश्चात् घर में फिर से जन्मोत्सव हुआ। जन्म के समय शरद ऋतु थी। इस ऋतु में मेघ रहित आकाश में निर्मल शीतल किरणों के समूह के प्रसार से चन्द्र-मण्डल का सुधा रस बढ़ा हुआ रहता है तथा जिनेन्द्र देव प्रणीत धर्म के समान दूर तक दिशा पथ फैला दिखाई देता है। ऐसी ऋतु में शिशु, मल्लप्पा के घर में सुशोभित हुआ। शिशु की शुभ शान्त मुख कमल की सुगन्धि द्वारा पूरा घर भर गया। अतः महान् पुण्य से युक्त सोलहवें तीर्थंकर के शब्द के द्वारा 'शान्तिनाथ' नाम के द्वारा उसे पुकारा गया।

जहाँ एक महाभाग्यवान सुपुत्र उत्पन्न होता है, वहाँ अन्य भी सहोदर उसके पुण्य से जन्म लेते हैं। एक सुपुत्र से भी इस लोक में घर में स्वर्गसुख होता है, जहाँ तीन व चार पुत्र हों, उनके सुख का वर्णन कौन करे? पुत्र-पुत्रियों से सहित घर सौभाग्य से ही प्राप्त होता है, अन्यथा पुरुषार्थ क्या सभी जीवों में नहीं पाया जाता है?

जब छोटा भाई अनन्तनाथ तीन वर्ष का था, तब वह रीकेट्स रोग से ग्रस्त हो गया। जिससे अनन्तनाथ के हाथ-पैर धीरे-धीरे सूख गये। पेट बढ़ गया, शरीर अस्थिपंजर दिखाई देने लगा। अनेक उपायों के द्वारा भी वह स्वस्थ नहीं हुआ। सभी विचार करते हैं, कि मरण अब निश्चित ही है। गोरे रंग का सुंदर रूप होते हुए भी कैसा विद्रूप हो गया है? भाई की इस स्थिति को देखकर के विद्याधर अतिदुखी होते हुए, खेलने के लिए भी नहीं जाते थे। एक ग्रामीण वैद्य ने स्थिति देखकर के औषध दी और कहा-औषध सेवन के साथ एक वर्ष तक प्रातःकाल से बारह बजे तक धूप-सेवन कराना आवश्यक है। उसी प्रकार किया गया, जिससे उस बालक की त्वचा काली पड़ गई किन्तु रोग चला गया। उनके शरीर का रंग देखकर के विद्याधर पिता को कहते हैं-मेरे भाई का निदान किसी उत्कृष्ट वैद्य से कराना चाहिये। वह वैद्य को भी अनेक बार पूछते हैं, कि मेरा भाई कब स्वस्थ होगा? इस तरह विद्याधर अपने भाई-बहन को हृदय से प्रेम करते थे।

विद्याधर के द्वारा दोनों भाई का जन्म से ही लालन किया गया।

उनके हृदय में कुटुम्बियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न हुआ। स्वयं पढ़ने-लिखने, कृषि के काम से खेत जाना, पिता की आज्ञा से समाज कार्य में तत्परता इत्यादि करके वह माता की आज्ञा भी पालते थे। किसी दिन शान्तिनाथ ने अत्यधिक रोना शुरू कर दिया। माता ने अपनी गोदी में लेकर विभिन्न प्रकार के पहेलियों को सुनाकर और घर के आँगन में घुमा-घुमा करके उसको चुप किया फिर भी वह चुप नहीं हुआ। अतः रोते हुए बहुत समय निकल गया, तब माता ने विद्याधर को बुलाया। उसी समय आये हुए विद्याधर को देखकर माता ने उससे कहा-विद्याधर! इसको बाहर ले जाकर चुप करा दो। बाहर जाकर विद्याधर ने शान्तिनाथ को देखो-देखो, गा-गाकर, घुमा-घुमाकर चुप करने के लिए बहुत प्रयास किया। बालक फिर भी चुप नहीं हुआ। बहुत समय के बाद विद्याधर ने संबोधन किया-''शान्तिनाथ! क्यों , रोने से बहुत पाप का अर्जन करते हैं। तुममें तीन रत्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उनको देखो, देखो! यह सुनकर शिशु तुरन्त शान्त हो गया। बाद में शिशु ने इशारा किया-लाओ, लाओ कहाँ हैं रत्न? विद्याधर ने हाथ की अंगुलि द्वारा दिखाया यहाँ-यहाँ तुम्हारे हृदय में। यह दृश्य बहिन शान्ता दूर से देखती थी और उसने प्रसन्नता पूर्वक घर में जाकर माता से सब कुछ हँसते हुए कहा।

अन्य समय जब विद्याधर ने घर में प्रवेश किया तब देखा- दोनों भाई आपस में खेलते थे। पास आकर विद्याधर ने कहा-लगातार खेलना ही नहीं चाहिए अपितु पढ़ने में भी मन लगाना चाहिए। तब वह उन दोनों को घर के कमरे में लाये, वहाँ बैठकर-''मेरे साथ उच्चारण करो' ऐसा आदेश दिया। ''णमो अरिहंताणं...।''

बार-बार मंत्र का उच्चारण करके-''ऐसा पढ़ो ऐसा नहीं पढ़ो'' इत्यादि प्रकार से सम्बोधन करके उन दोनों के स्मृति-पथ पर मंत्र निबद्ध कर दिया (अर्थात् उन दोनों को मंत्र याद करा दिया) और त्रिकालवर्ती चौबीस तीर्थंकरों के नाम भी स्मरण कराए और कहा-प्रतिदिन मंत्र की जाप भी करनी चाहिए।

मंत्र णमोकार का जाप करना चाहिए और कराना चाहिए। वह

संस्कार ही जैनत्व है। इस संस्कार के बिना इस जन्म से क्या है? इस प्रकार दोनों भाइयों के ऊपर विद्याधर के द्वारा तब संस्कार दिए गए।

कन्नड़ (भाषा) माध्यम के द्वारा विद्याधर ने नवमीं कक्षा पास की। पिता ने हमेशा देखा उसमें धर्म-ग्रंथों के पढ़ने की रुचि के समान लौकिक-ग्रंथों के पढ़ने में भी रुचि थी। "अधिक पढ़ने से क्या लाभ?" ऐसा कभी मल्लप्पा ने पूछा। विद्याधर ने सहजता से कहा–'पढ़ने से बुद्धि का विकास होता है। इसके द्वारा उच्चस्तरीय यांत्रिक विभाग में इस समय के वैज्ञानिक छात्रों के समान कार्यरत हो जाऊँगा।"

ज्ञानावरण का क्षय, उपशम से उत्पन्न क्षयोपशम-गत मिश्र-भाव होता है। उस मिश्रभाव से ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान से उत्पन्न विज्ञान ऐसे कार्य में लगाता है। "यह ठीक प्रतीत नहीं होता" पिता ने कहा। फिर–यह हमारी आयी हुई कुल परम्परा के अनुकूल कार्य नहीं है। कृषि ही उत्तम कार्य है। व्यापार मध्यम है। सेवाकर्म तो जघन्य है। इसलिए कृषि की अच्छी वृद्धि के लिए, अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए और यह न केवल विचारी गई बात है, अपितु अनुभूत है। मेरे द्वारा भी पहले बहुत प्रकार के कार्य करने की योजना बनाई गईं, फिर भी सफल नहीं हुई। इससे निश्चित किया गया कि कृषि ही करने योग्य है। इसलिए आगे पढ़ना आवश्यक नहीं है।

उत्तम कृषिकार्य है। मध्यम वाणिज्य से तथा दूसरे की सेवा से जीवन चलाना जघन्य है। यह पूर्व परम्परा से चला आ रहा है। विद्याधर पिता के वचनों को सुनकर कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। मन के भावों को मन में ही रखकर वह बैठ गया। पिता की आज्ञा को पूरा करने के लिए वह कृषि कार्य में लग गया। फिर भी उसके मन में, एक विचार सदा ही आन्दोलन करता था, कि मेरे मन में पढ़ने की इच्छा है, उसकी शान्ति कैसे हो? शिक्षा की वृद्धि के बिना जीवन निष्फल प्रतीत होता है।

सच ही है–बुद्धि का बल समस्त बलों में प्रधान है, बुद्धि से विहीन मनुष्य पृथ्वी पर भारभूत हैं, प्रशिक्षण के बिना बुद्धि का विकास नहीं होता है, इसलिए बुद्धि का अर्जन करने के लिए प्रयास करना चाहिए।

उस समय वह लगभग चौदह वर्ष के थे। मित्रों के साथ बैठकर वह ज्ञान की प्रतिदिन नई-नई वृद्धि करते थे। कभी वह संसार की असारता का चिंतन करते थे। कभी वह पिता की आज्ञा का स्मरण करते थे। कभी वह गाँव में आये हुए, मुनिजनों के विषय में विचार करते थे। कभी वह पास के लोगों के कष्ट देखते थे, कभी वह अपने भविष्यकाल का आकलन करते थे। कभी वह संसार के सम्बन्धों को बन्धन के समान अनुभव करते थे, कभी वह माता के सहज स्नेह से बँध जाते थे। कभी वह एकान्त में जिनबिम्ब का ध्यान करते थे। कभी वह दूसरे गाँव में होने वाले महोत्सव में जाकर समय बिताते। कभी वह ज्येष्ठ भाई के उलाहने को सहते थे, कि- तुम कृषि और घर के कार्यों से विमुख हो, तुम पुरुषार्थ विहीन हो। इस प्रकार बहुत विचार रूपी गलियों में भ्रमण करके वह बीस वर्ष के हो गए। बुद्धि का कार्य केवल रात-दिन पुस्तकों को रटना नहीं है। जो दिखता है, वह किस कारण से घटित होता है, ऐसा चिंतन करना ही बुद्धि का कार्य है।

तब सन् १९६६ ई० में विद्याधर गाँव के मुख्य प्रमुख लोगों के साथ पास में स्थित गाँव में गये। 'शमनेबाड़ी' गाँव में आचार्यश्री अनन्तकीर्ति अपनी निर्मल कीर्ति के द्वारा सम्पूर्ण जनों की कीर्ति के विषय हुए। विहारकाल में निवेदन करके और हृदय से अपनी अभिलाषा को प्रकट करके किसी भी तरह वह लोग आचार्यवर्य को अपने गाँव में लाये। उस वर्ष का वर्षायोग उन्होंने उस ही गाँव में स्थापित किया। महाराज अस्ताचल को प्राप्त सूर्य के समान अपनी आयु की पर्याय को मन्द गति से व्यतीत कर रहे थे। सहस्रनाम पाठ को पढ़कर विद्याधर ने महाराज के समीप स्थित होकर अपनी मन की इच्छा को कहा-"भगवन्! घर सम्बन्धी कृषि आदिक कार्य निरर्थक प्रतीत होते हैं। जिनागम को पढ़ने की तीव्र अभिलाषा मन में है, वह कैसे पूर्ण हो? यह दिग्दर्शन आपसे चाहता हूँ। आप ही मेरे हृदय को अच्छी प्रकार से जानते हो, अतः आपके समक्ष मैंने अपना अभिप्राय प्रकट किया है।"

यौवनकाल में धर्म में जो रुचि करता है, उसे निकटभव्य जानो। वास्तव में साधु ही योग्य को जानता है, इसलिए साधु के द्वारा दिया गया,

दिशानिर्देश ही श्रेयस्कर है।

एक क्षण अच्छी तरह सोचकर श्री मुनि समस्त होनहार को जान गए। इसलिए कहा–''विद्याधर! सुनो इधर दक्षिणापथ में कोई भी मुनि जिनागम के अध्येता नहीं है। हाँ, उत्तरापथ में अभी एक आचार्य देव हैं और जिनका प्रभाव दिग्दिगान्तर में व्याप्त है और अध्ययन चरम सीमा पर है। इस युग के विद्वानों का परिचय भी उनको है। दक्षिण के होने के कारण उनसे तुम्हारा परिचय भी सुलभतापूर्वक हो जायेगा। अतः उनके पास जाओ। जो तीव्र इच्छा रखता है, वह तृषित होकर यदि उसकी प्राप्ति कर लेता है, तो उसके लिए जल भी अमृत हो जाता है। सच है– **जहाँ रुचि है, वहाँ मार्ग भी होता है**।

गहन वन में भटके हुए राहगीर को दिशा-लाभ के समान, युद्ध के उद्देश्य से निकलते हुए पवनञ्जय को विरह प्राप्त चकवा-चकवी के दर्शन के समान, अत्यन्त घनघोर अंधकार से व्याप्त रात्रि में दुखी हुए को, अचानक बिजली की चमक के समान, स्वर्ग की उपपाद शय्या से उठे हुए देव को पूर्व भव के हुए बोध के समान, चिरकाल से चले आये राज रोग के रोगी को कुशलवैद्य की प्राप्ति के समान, महागर्त में गिरे हुए और प्रतीक्षा करते हुए दिग्गज को किसी परिचित का मुख दिखाई देने के समान, विजयार्द्धगिरि पर उत्पन्न विद्या-सिद्धि के लिए अत्यन्त आतुर विद्याधर को, मंत्र मात्र की जानकारी के समान, नैगमनय की मुख्यता वाले को मुक्ति प्राप्ति के समान, विद्याधर को आज सम्यक् विद्या-विधि की प्राप्ति हुई।

वह रात्रि में भावी योजना के विषय में सोचने लगे–भाई और पिता तो पहले से ही इतने क्रोधित हैं, इसलिए उन दोनों को अपना अभिप्राय बताने से कुछ नहीं होगा। माता तो मेरे विषय में अच्छा सोचती है, फिर भी घर छोड़ने की बात उनके हृदय को दुख देगी। यात्रा निश्चित रूप से दीर्घ समय वाली और बहुत लम्बी है। अधिक धन के बिना यात्रा सम्भव नहीं है। मित्रों को अपनी योजना निवेदित करूँ अथवा नहीं, यदि नहीं कहूँगा, तो धन की व्यवस्था भी नहीं होगी। धर्म-कार्य के लिए चोरी करना भी उचित नहीं। अन्य किसी श्रेष्ठि से धन माँगना कर्ज के बिना नहीं होगा।

कर्ज से मुक्ति भी अवश्य करनी होगी अन्यथा कुल की प्रतिष्ठा की हानि होगी। इत्यादि ऊहापोह में कैसे भी रात्रि निकल गयी।

सच ही है–जो पुरुष जिसकी इच्छा करता है, वह उसके विषय में रात–दिन चिंता करता है। निद्रा, भोजन और अन्य कार्य उस अभिलाषी को रुचते नहीं हैं। प्रातः देव–शास्त्र–गुरु की सम्यक् आराधना करके, अपने अभिप्राय को मित्रो में भी विश्वासपात्र मित्रों को बताया। जिनगौड़ा ने तो साथ जाने के लिए शीघ्र ही स्वीकृति दे दी। मारुति ने कहा–मैं ऐसा नहीं कर सकता हूँ। आपका अभिप्राय अति उत्तम है। धन–व्यवस्था के संबंध में चिन्ता मत करो, जितना आवश्यक हो उतना दे दूँगा। घर में स्थित माता–पिता– भाइयों के विषय में निश्चिन्त रहो। उचित समय पर इसकी जानकारी दे दूँगा।

''**कार्य के आरम्भ से ही सर्वत्र अनुकूलता ही कार्य की सिद्धि है**'' ऐसी संभावना करके मार्च १९६६ में जिनगौड़ा के साथ विद्याधर चले गये। माँ के पैर उन्होंने सोते समय छू लिए। पिता के पैरों में दूर से ही विनय को प्रदर्शित करके चले गए। जाते समय उन्होंने जिनालय में स्थित जिनबिम्बों की खूब भक्ति–भावों से भरकर वन्दना, भक्ति–पाठ के द्वारा स्तुति कर संस्तुति की। बाल्यकाल से ही इन जिनबिम्बों की पूजा अर्चनादि की है, पुनः कब दर्शन होंगे यह नहीं जानता हूँ ऐसा सोचकर गर्म आँसुओं की मोटी धार के द्वारा मानो जिनाभिषेक करके घर से निकल गए। संध्या राग के समान थोड़ी खुशी, थोड़ा शोक करते हुए संध्या समय जन्म–स्थली के मोह का त्यागी पद–पद गमन करते हुए निरापद हो गया। यदि व्यक्ति भाग्यवान है, तो उस पुरुष की बुद्धि भाग्य के आगे–आगे हमेशा दौड़ती है। तीव्रभाव के साथ करणीयकार्य को जो करते हैं, वे सफल होते हैं।

तीव्र अध्यवसाय जिसके पास होता है, उसके समक्ष व्यवधान नहीं ठहरते हैं। क्या सूर्य के समक्ष घनघोर तिमिर भी ठहर सकता है?

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामक महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला निरापदपथनगमनसंज्ञक चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

पाँचवाँ सर्ग
श्रमणसूर्य

'मारुति' मित्र से धन लेकर विद्याधर शीघ्र वहाँ आ गए जहाँ जयपुर नगर के खानियाँजी क्षेत्र में दक्षिणदेशवासी आचार्यश्री देशभूषणजी महाराज चातुर्मास के दौरान स्थित थे। उनके पास आकर विद्याधर ने विनयपूर्वक कहा–''हे आचार्य ज्येष्ठ! मैं संसार के दुख से डरा हूँ, मैं व्रतों की इच्छा करता हूँ, जिससे मेरा जन्म सफल होवे। कुछ विचार करके आचार्यदेव ने उसके साथ उनके विषय में पूछताछ की। घर की स्थिति, शिक्षा, माता-पिता, व्यापार इत्यादि विषयों के बारे में जानकर वह संतुष्ट हुए। यौवन अवस्था में भी तप की भावना, परिवार से सहित होकर भी वैराग्य भाव से सहित होना, यह आश्चर्यकारी है। अचानक गिरने वाली बिजली की तरह, इस बालक का समागम स्थिर होगा अथवा नहीं होगा, इस प्रकार का संशय धारण किए वह आचार्य शीघ्र ही व्रत प्रदान करने में उद्यत नहीं हुए। दो-तीन दिन बाद फिर से जब विद्याधर ने निवेदन किया, तो उसकी अति रुचि देखकर सूरि ने उन्हें व्रत दे दिया। विद्याधर सदैव गुरु की सेवा करते हुए गुरु के पास ही रहते थे। रात्रि में भी गुरुदेव जहाँ रहते थे, वहीं वह रहते थे। एक बार चूलगिरि पर्वत पर संध्या के समय गुरु को बिच्छू ने डंक मार दिया। गुरु के कष्ट को देखकर वह सहसा औषधि के निमित्त पर्वत से नीचे उतरने लगे। रास्ते में एक काले सर्प को देखकर वह वहीं रुक गये। विद्याधर ने पहले के अभ्यास से तुरन्त णमोकार मन्त्र का चिंतन किया, क्षणभर के लिए आँखें बन्द कर लीं बाद में देखा तो वहाँ सर्प नहीं दिखा। विघ्न का निवारण हो गया, ऐसा जानकर अंधेरे में ही औषधि को तीव्र वेग से वह लेकर आ गये। औषधि के प्रयोग से पीड़ा जब कम हुई, तो गुरु ने प्रसन्न-चित्त से उन्हें देखा और फिर मन से प्रसन्न हुए। विद्याधर ने अपने अच्छे व्यवहार और निरहंकारवृत्ति से गुरु और संघ के चित्त पर अपना अधिकार कर लिया। आचार्यश्री ने थोड़े ही समय में स्वयं संघ के संचालक का काम माणिकबाई से विद्याधर को दे दिया। विहार के समय संघ के निर्वाह

के लिए समस्त सामग्री को वही जुटाते थे, फिर भी वह खिन्न नहीं होते थे। १९६७ ई० में सम्पन्न होने वाले ''गोम्मटेश महामस्तिकाभिषेक महोत्सव'' में भाग लेने के लिए आचार्यश्री ने ससंघ विहार किया। उस समय उनके संघ में संभवकुमार (वर्तमान में आचार्य बाहुबलीसागरजी) भी रहते थे। अजमेर-इन्दौर-पावागढ़-बड़वानी-मांगीतुंगी होते हुए विहार हुआ। विहार काल में कहीं जिनालय में 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका' यह ग्रन्थ उन्हें प्राप्त हुआ। संघ के कार्य को पूरा करके जो समय बचता था, उसमें वह ग्रन्थ पढ़ने में लग जाते थे। जब कभी आवश्यकता पड़ने पर विद्याधर ने डोली भी उठाई। फिर श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर उन्होंने सात प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

इधर घर में मल्लप्पा गुस्से में थे। वह कहते थे- ''अपने आप आ जाएगा। कोई भी उसे (विद्याधर) लेने के लिए कहीं नहीं जायेगा।'' इस प्रकार कहते-कहते जब उन्होंने सुना, कि वह विद्याधर पास में ही आ गया है, स्तवनिधि में तो पुत्र के व्यामोह से उनका क्रोध शान्त हो गया और पूरे परिवार के साथ वहाँ मिलने गये। सभी ने विद्याधर को समझाया। ''घर चलो, घर चलो'' इस प्रकार सभी लोग बार-बार कहने लगे। परिचय होने से अन्य लोग भी मिलने को आ जाते। इस कारण से विद्याधर परितप्त होते हुए उद्वेग को प्राप्त हुए। अन्यत्र चले जाने के लिए उन्होंने गुरु से प्रार्थना की। विचार करके उन्होंने अपनी मन की बात विनय पूर्वक गुरु को कह दी। मुनिश्रेष्ठ ने उन्हें आज्ञा दे दी और कहा-तुम भव्य हो, राजस्थान प्रान्त में श्री शिवसागर आचार्य हैं, वहाँ चले जाओ। जिससे तुम्हारा कल्याण हो।

गुरु के मन को अपने अभिप्राय के अनुकूल जानकर विद्याधर बहुत सन्तुष्ट हुए। **मन के अनुकूल परिस्थिति का होना ही भाग्य है।** बाहुबली जिनेन्द्रप्रभु को अत्यधिक भक्तिभाव से बार-बार नमस्कार करके और गुरुमहाराज को नमस्कार कर, वह वहाँ से बाहर चले गये। 'क्या होगा' इस चिंता से युक्त होकर भी वह निराकुल थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह आकुलता अर्थात् क्षोभ से रहित थे। मार्ग के भय से डरे होकर भी मार्ग

के भय से डरे नहीं थे, इस विरोध का परिहार यह है कि वह अमार्ग अर्थात् संसार मार्ग से भयभीत थे। वह असहाय होकर भी ससहाय थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वे स्व-आत्मा के सहायक थे। वह उद्वेग सहित होकर अनुद्वेग सहित थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह अनुद्वेग अर्थात् शान्त थे। वह परीत (निकट) संसारी होकर भी संसारी नहीं थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विपरीत अर्थात् संसार से विपरीत थे। वह परिग्रह से सहित होते हुए भी, निष्परिग्रही थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह भावों से निष्परिग्रही थे। ऐसे विद्याधर स्तवनिधि से कोल्हापुर, वहाँ से बम्बई होते हुए, दो दिन तक आहार-पानी ग्रहण किये बिना, ग्रीष्म की प्यास से तृषित होते हुए अजमेर नगर में आ जाते हैं।

विख्यात सोनीजी की नसियां में पहुँचकर रात्रि में विश्राम किया। दूसरे दिन प्रत्यूष वेला में शीघ्र ही सामायिक पूजादि कार्य अच्छी तरह करके अन्न-जल ग्रहण किया और सो गए। बाद में पूर्व का परिचय होने से कजौड़ीमल श्रावक को देखकर, यहाँ आने का कारण कहा। विद्याधर ने कहा, कि मैं शिवसागर आचार्य जी के पास जाना चाहता हूँ। उन श्रावक ने पूछा-वहीं क्यों जा रहे हो? ''जिनधर्म का स्वाध्याय करने के लिए'' यह उत्तर सुनकर पुनः कजौड़ीमल ने कहा-यदि ऐसा है, तो मेरे साथ चलो। जिनशास्त्रों के विज्ञाता एक ज्ञानसागर नाम वाले उन्हीं आचार्य शिवसागर के शिष्य अत्यन्त पंडित मुनि किशनगढ़ में विराजमान हैं। विद्याधर ने कहा-''मैं कुछ नहीं जानता हूँ, जिससे मेरा कल्याण हो वह करना है।'' इस प्रकार परस्पर में विचार करके उन यति के समीप वह लोग पहुँचते हैं। विनयपूर्वक मुनिराज को प्रणाम करते हुए, अपने मन की बात कही। अभिप्राय को सुनकर मुनि ने कहा-क्या नाम है? विद्याधर। यह सुनकर प्रसन्न दृष्टि से विद्याधर का मुख देखकर कहा-''बहुत से विद्याधर आते हैं, सभी पढ़कर उड़ जाते हैं।'' चूँकि विद्याधर कन्नड़भाषी थे, इसलिए सहसा उनके अभिप्राय को नहीं समझकर चुपचाप बैठे रहे। बाद में कजौड़ीमल से उनके अभिप्राय को समझकर दूसरे दिन कहा-''भगवन्! आपके पादमूल में विद्याध्ययन करूँगा। आज के बाद मैं वाहन का प्रयोग नहीं करूँगा,

ऐसा मेरा संकल्प है।'' विद्याधर के इस विचार से अत्यन्त संतुष्ट हुए, मुनि ज्ञानसागरजी ने ब्रह्मचारी की चारित्र के प्रति दृढ़ता को देखकर 'ओम्' इस प्रकार का आश्वासन दिया।

शुभतिथि, शुभनक्षत्र और शुभदिन में अध्ययन प्रारम्भ हुआ। संस्कृत, हिन्दी भाषा के साथ जिनधर्म के विषय को भी वह नित्य पढ़ते थे। भाषा का ज्ञान करने के लिए कष्ट सहित परिश्रम में सदा उद्यत रहते थे। भाषा ज्ञान के बिना धर्म विषयक ज्ञान नहीं होता है। इस चिन्ता से वह गुरु की सेवा करते हुए, बचे हुए समय में पढ़ते ही थे, अन्य कार्य में मन नहीं लगाते थे। भाषा-व्याकरण और नाममाला महेन्द्रकुमार पाटनी नाम के विद्वान् श्रावक ने उनको पढ़ाया था। वह पाटनीजी भी बाद में मुनि समतासागर हुए और श्रुतसागर मुनि से समाधि की सम्पत्ति को प्राप्त हुए। एक दिन विद्याधर हिन्दी भाषा की पुस्तक लेकर पढ़ने के लिए बैठ गये, तभी गुरु ने कहा हमेशा मूल संस्कृत भाषा से पढ़ा करो। व्याकरण भी मूल भाग से ही पढ़ना चाहिए। उस समय अतिवृद्ध होने से विद्याधर शब्द-अर्थ के साथ ग्रन्थ पढ़ते थे और गुरु बहुलता से सुनते थे। बीच-बीच में जैसा आवश्यक होता विषय ज्ञान भी कराते थे। एक बार सायंकाल की सामायिक के बाद विद्याधर वैय्यावृत्ति करने के लिए गए तो गुरु ने कहा-''अध्ययन में चित्त लगाना है अन्य कार्य में नहीं।'' उसके बाद वह रात्रि में विद्याभ्यास करते। एक बार श्रीगुरु कजौड़ीमल श्रावक को कहते हैं- रात्रि में विद्याधर पढ़ता है अथवा नहीं पढ़ता है, यह परीक्षा करना चाहिए। इसी कारण से उस श्रावक ने रात्रि में दो-तीन बार दरवाजे से छिपकर देखा। विद्याधर सदा पढ़ते हुए दिखे। सुबह श्रावक ने जो देखा, सो कह दिया। शिष्य के परिश्रम से गुरु को सन्तुष्टि हुई। फिर सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ को विद्याधर ने हृदय में अवधारित किया। गुरु की आज्ञा से विद्याधर केशलुंचन कर रहे थे, तभी एक क्षुल्लक महाराज ने देखा विद्याधर के शिर पर से खून बह रहा है। 'सट्ट-सट्ट' यह आवाज सुनाई दे रही है। इसलिए उद्विग्न होकर मुनि के पास पहुँचे। 'चिंता मत करो' गुरु ने यह आश्वासन दिया। विद्याधर के धैर्य को और कष्ट में निडरता को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न थे। जब वह गुरु के

निकट बैठे, तभी धीरे से मुनिराज ने कहा–''बहुत देर से आये हो?'' विद्याधर गुरु के निकट नग्न अवस्था में शयन करते। ''ज्ञान की प्यास के साथ चारित्र–रूपी भोजन की भी सदा इच्छा करता है।'' इस प्रकार गुरुदेव ने मन में चिंतन किया। एक बार 'हरकचन्द्र झांझरी' नाम के श्रावक विद्याधर को भोजन के लिए अपने घर ले गये। जब वह लौट कर आये तो गुरु कहते हैं–

सेठजी! ब्रह्मचारी जी को दूध पिलाना चाहिए घी नहीं। इस प्रकार के वात्सल्य भाव से सिंचित हुआ शिष्य वृद्धिंगत हुआ। धीरे–धीरे गुरु शिष्य के बीच गाय–बछड़े की तरह स्नेह भी बढ़ा।

एक बार मुनिराज अवसर पाकर शिष्य के आगे पिच्छिका के पंख अलग–अलग करके दे देते हैं और कहते हैं, कि इसे दुबारा बनाओ। वह शिष्य भी पूर्व संस्कार के कारण उस पिच्छिका को बनाकर ले आता है। इस प्रकार देखकर गुरु ने शिष्य में मोक्षमार्ग के चिह्नों को देखा। कभी गुरु ने कायोत्सर्ग से कर पात्र में आहार भी करवाया।

एक बार ब्रह्मचारी शिष्य गुरु के साथ उनकी परिचर्या के लिए बाड़े में जाते हैं। रास्ते में उन्होंने एक उद्दण्ड बछड़े को देखा। गुरु की रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है, इस प्रकार सहसा सोचकर पास में पड़े हुए एक घास के पूर (गट्ठे) को उठाकर उस बछड़े के आगे फेंक दिया। तब शान्त हुआ वह बछड़ा उस घास के ढेर को खाने में लग गया। तभी एक दूसरा गट्ठा भी फेंक दिया। इस प्रकार शिष्य के विवेक से उपसर्ग दूर हो गया। यह देखकर गुरु ने मन्द मुस्कान से शिष्य की प्रशंसा की।

श्रेष्ठ गुरु योग्य शिष्य की गवेषणा करता है। शिष्य को दिया हुआ ज्ञान वास्तव में उस गुरु की ज्ञानसाधना का फल होता है। शिष्य को प्राप्त करके गुरु का रोमांचित होना भवान्तर में अर्जित हुए पुण्य का विपाक होता है। इस तरह सभी प्रकार से परीक्षा करके और अपनी को अल्प जानकर के विद्याधर की मुनिदीक्षा की सूचना समाज के प्रमुख लोगों को दी गई। यह संदेश शीघ्र ही पूरे नगर में फैल गया। ''पूर्ण यौवन में दीक्षा नहीं देना चाहिए। ज्ञानसागर तो अनुभवशील हैं, फिर भी ऐसा करते हैं। तत्काल में

मोह और गारव के साथ न दीक्षा देना चाहिए और न अभिमान से ग्रहण करना चाहिए। अरे! इतना सुंदर, बलिष्ठ व्यक्ति कैसे आजीवन तप करने में लीन होगा? जब तक क्षुल्लक, ऐलक होकर मनरूपी मरकट का भंजन नहीं किया जाता, तब तक जिनरूप के योग्य कैसे हो सकता है?'' इसलिए हम गृहस्थों को समझाना चाहिए और रोकना चाहिए। इस प्रकार सभी मिलकर के मुनि के समीप आये। अत्यन्त विनय से कहते हैं–हे स्वामिन्! इस दुखमाकाल में यौवन से पूर्ण व्यक्ति को जिनरूप धारण करना युक्तियुक्त नहीं है। उसकी उम्र अभी संन्यास के योग्य नहीं है। इसलिए विलम्ब से करना चाहिए। ऐसा हम लोगों का निर्णय है। मुनिराज ने मंद स्वर में गंभीरता के साथ कहा–विवाद नहीं करना चाहिए। साधु का लिंग परापेक्षी नहीं है। पर की सहायता के बिना भी दीक्षा हो जाती है। एकान्त में, मंदिर में या किसी उद्यान में कहीं पर भी शिला पर बैठकर के यह कार्य कर लूँगा। इस प्रकार सुनकर वे आपस में चिंतन करते हैं और फिर उनमें से प्रमुख व्यक्ति कहता है–हम सभी लोग क्षमा चाहते हैं। दीक्षा हर्षोल्लास से होगी। भागचंद सोनी प्रमुख श्रावक थे। भक्ति से भरे हुए जिनदीक्षा उत्सव के लिए तैयार हो गए। उन्होंने सभी दिशाओं में हाथी घोड़े आदि बुलाने के लिए लोगों को भेजा। कहीं पर भी हाथी नहीं मिले। अति चिंता से बैठे थे, उसी समय पर सहसा कुछ लोग उनके पास आकर कहते हैं– यहाँ अजमेर में 'जैमिनी सर्कस' का आयोजन करने के लिए बड़ी जमीन चाहिए है। थोड़ी देर से सभी प्रमुखजन आकर बातचीत करने लगे। वह वार्ता होने पर बाहर आकर श्रीछगनलाल पाटनी, कांग्रेस के प्रमुख व्यक्ति केसरीचंद ओसवाल को देखकर जमीन के लिए आये हुए पुलिस अधीक्षक के समीप, बाद में विधायक श्री माणकचंद सोगानी के पास गए। अंत में करविभाग के अधिकारी मदनलाल काला के समीप गए। वह अधिकारी कहते हैं–मेरे हस्ताक्षर के बिना सर्कस का प्रारंभ कैसे हो सकता है? इसलिए आप लोग चिंता मत करो। वह अधिकारी सर्कस के मालिक को पूछता है–क्या तुम्हारे पास हाथी हैं? हाँ हैं। इस प्रकार के उत्तर को सुनकर वह कहते हैं–पहले हाथियों को बुलाओ बाद में दूसरा काम होगा। इस तरह

सभी ने विचार किया, कि पुण्य से इष्ट का समागम स्वयमेव ही हो जाता है, यह वचन सत्य हैं।

तब तीन दिन पर्यन्त पूरे नगर में सात-आठ हाथियों के समूह, घोड़े, ऊँट सहित विपुल भीड़ के साथ प्रमुख हाथी के ऊपर विद्याधर स्थित हैं, जो कि किसी महाराजा की तरह महिमा को धारण करने वाले हैं, जिन्होंने अपने मुख से देवों के मुख की सुन्दरता को भी जीत लिया है, शील आदि अनेक गुणों के व्याज से मदन के पराजय की पताका को मुकुट, केसर, माला आभरणों की बहुलता से सजे हुए समस्त नर-नारी जिनके मुख को देखने से ही अपने जन्म की सफलता और सौभाग्य को भाते रहे। तब विद्याधर बारह भावनायें भाते हैं–शरीर, राज्य, आयु, धन और सुख ये सब अनित्य रूप हैं और क्षणभंगुर हैं। पानी के बूँद से समान तथा इन्द्रधनुष के समान ये सदा नहीं रहते हैं फिर मैं किसमें रमण करूँ।

काम और भोग विपत्ति के मध्य में डालने वाले हैं, मनुष्य का रूप विद्युत के समान क्षणभंगुर है और सुख के आगे दुख ही उत्पन्न होता है इस प्रकार इस लोक में कुछ भी सुंदर प्रतिभाषित नहीं होता है।

काल के वेला के सम्मुख होने पर माता-पिता-बन्धु और अपने सगे बान्धव मित्र वैद्य, तंत्र-मंत्र ये कोई भी इस लोक में कदापि रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। यमराज के समान आयु के निषेक मनुष्य को जीवन नित्य ही निगलते चले जाते हैं फिर भी मूढ़ जीव हर्षित होकर ऊपर मस्तक उठाकर चलता है किन्तु अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नहीं करता।

यह जीव माता के उदर से बड़े क्लेश से निकलता है फिर हजारों व्याधियों से अनेक प्रकार की पीड़ाओं को भोगता है। इष्ट का विरह हो जाने पर विलाप करता है। इस संसार के बीच में रहकर यह जीव सब कुछ सहन करता है। इस जीव का जन्म जल में, स्थल पर, नरकों में, देवों में, मनुष्यों में और पशु योनि में भी होता है। दुखों को भोगता है और मरण को प्राप्त करता है तथा पाँच प्रकार के परावर्तनों को भी करता रहता है।

इस लोक में जीव बेचारा अकेला ही जन्म ग्रहण करता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही रोता है और अकेला ही बन्ध को प्राप्त होता है।

कुटुम्बी जनों में से कोई भी इसके साथ नहीं होता है फिर भी यह कुटुम्बी जनों के लिए ही मूढ़ बना हुआ मरण करता है। पुण्य के उदय से देव और चक्रवर्ती के भोग मिलते हैं, पाप के उदय से पशु–योनि के दुख और नरक मिलते हैं। शुभ और अशुभ के द्वारा इस प्रकार से मोही जीव भ्रमण करता है किन्तु कर्म से रहित आत्मतत्त्व को कभी भी नहीं देखता है।

देह, धन आदि स्त्री–पुत्र आदि ये सभी प्रत्यक्ष रूप से पृथकभूत देखने में आते हैं किन्तु मोह के कारण से मोही जीव इन्हें एक रूप मानता है। स्वयं के आत्मस्वरूप को सदा नहीं पहचानता है। जीव अपने लक्षणों के द्वारा भिन्न है। समीचीन दर्शन से सहित है और ज्ञानी है। इस प्रकार से जीव पर से भिन्न अपने आप को नहीं जानता। अन्यत्व भावना के द्वारा ही समीचीन रूप से जीव का स्वरूप प्रकट होता है। यह शरीर अशुभ पदार्थों की खानी है। रोग रूपी सर्पों के रहने का बिल है और अनर्थ करने वाला है। मांस, अस्थि और रक्त के द्वारा अपवित्र है। दुर्गंध का योनिभूत है इसलिए ये स्नेह का कारणभूत नहीं है। राग से इस देह में आत्मा निवास करता है। नौ मास के दीर्घकाल तक वीभत्स गर्भ में रहता है और बाल्यकाल में भी मल को खाता है। युवा होकर वह अशुचि स्त्री की देह में रमण करता हुआ मूढ़ बना रहता है।

कर्म के आस्रव से संसार और भोगों से भीति होती है। मोह–रागादि विभाव भाव उत्पन्न होते हैं और इन्हीं विभाव भावों के कारण से ही मिथ्यात्व कषाय योग आदि भावास्रव होते हैं और इन भावास्रवों से द्रव्य कर्मों का आस्रव होता है। आहार संज्ञा, चार कषाय, पाँच पाप, तीन गारव, स्पर्शादि पाँच इन्द्रियों के विष रूप विषय इन सब विशेष भावों के द्वारा रागादि भावों से युक्त होकर कर्म की सत्ता बनी रहती है। महाव्रतों के द्वारा पाप का संवर होता है और सभी प्रकार की इन्द्रियों के रोध हो जाने पर संसार का संवर होता है। कषाय के रुक जाने पर कर्म के वंश का अर्थात् परंपरा का निरोध हो जाता है। ऐसे संवर को मैं विधिपूर्वक धारण करता हूँ। व्रतों के साथ समय का सार अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप का ज्ञान होना स्व और पर का जो विभाजन है वह करके निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप पद को जब मैं

वेदन करूँगा तब ही मुझे शांति होगी। सु-संवर से नवीन कर्मों का आना रुक जाता है। उन निबद्ध तथा पूर्व में बँधे हुए कर्मों को जब मैं गला दूँगा और उन कर्मों को तप के द्वारा अपनी इच्छा के साथ सकाम भाव से प्रसन्नता पूर्वक मैं शीघ्र ही झड़ाता हूँ। इस प्रकार की भावना निर्जरा भावना है। मेरे द्वारा श्रेष्ठ सम्यक्त्व भाव के साथ अकाम भाव के द्वारा तप के हीन भाव के साथ जो निर्जरा मेरे द्वारा की गई है उस निर्जरा के द्वारा संसार का कभी भी नाश नहीं होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

मैं जो घोर उपसर्ग है उसको सहन करता हूँ। परीषहों में अपनी क्षांति देता हूँ प्रदान करता हूँ। चारित्रमोह की जय करने के लिए मैं चारित्र धर्म को शीघ्र ही स्वीकार करता हूँ। जिस प्रकार से अग्नि के बिना पत्थर से स्वर्ण भाग की प्राप्ति कदापि नहीं होती है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि के द्वारा अशुद्ध होने से आत्मा शुद्धात्मा की उपलब्धि निर्जरा से ही करता है। अहो! यह लोक नीचे तो वेत्रासन से स्थित है, मध्य में झलरी के समान है, ऊपर मृदंग के तुल्य है, ऐसा यह लोक स्वभाव से निष्पन्नता को प्राप्त हुआ है।

नीचे सात पृथ्वियाँ स्थित हैं उन पृथ्वियों में बिल हैं जिनमें नारकी जीव निवास करते हैं। वे नारकी जीव आपस में हमेशा युद्ध करते हुए दुःखों को सहन करते हैं। तीव्र अति पाप के द्वारा वे सदा ही पाप करते हुए पाप जीव कहलाते हैं।

लोक के मध्य भाग में मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं। यही इस मध्यलोक में प्रमुखता से निवास करते हैं। यही मनुष्य और तिर्यंच पाप के विपाक से मिश्रित पुण्य के द्वारा सुख और दुख दोनों का सेवन करते हैं यह खेद की बात है। असंख्य द्वीपों में और असंख्य समुद्रों के बीच जम्बूद्वीप शोभित होता है। जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है जो मेरु पर्वत सबसे ऊँचा और सबमें मुख्य सुशोभित होता है। मनुष्यों की उत्पत्ति मानुषोत्तर पर्वत के भीतर ढाईद्वीप और दो समुद्रों में ही होती है। उसके आगे असंख्य द्वीपों में तिर्यंच और व्यंतर जीव निवास करते हैं। ढाई द्वीपों में कर्म भूमि है और कहीं पर भोगभूमि स्थित है। अशाश्वत भोगभूमि में छह प्रकार से काल का परिवर्तन चलता है।

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव नियम से कर्मभूमि में ही रहते हैं तथा अंतिम स्वयंभूरमण आदि द्वीप और पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में ये जीव होते हैं। मनुष्य क्षेत्र के बाहर जब तक स्वयंप्रभ पर्वत के अर्द्ध द्वीप की सीमा नहीं आ जाती है तब तक जघन्य भोगभूमि के समान तिर्यंच योनि के जीवों की व्यवस्था रहती है। कालोदधि समुद्र में, लवणोदधि समुद्र में और अंत से स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव नियम से रहते हैं किन्तु अन्य शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं होते हैं। अनंत जीव स्वभाव से सिद्ध हैं। उन सिद्धों से अनंतगुणे निगोद जीव हैं, उन निगोद जीवों के अनंत भाग जीव अभव्य जीव हैं इस प्रकार से लोक में तीनों कालों में ये जीव इस प्रकार से निवास करते हैं।

किसी ब्राह्मण ने यह लोक बनाया है न किसी महेश्वर के द्वारा यह लोक विनाश स्वभाव वाला है। अजीव और जीव पदार्थ से भरा हुआ यह लोक उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के द्वारा विचित्र रूप होता रहता है। जीव संसार और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। धर्मास्तिकाय आदि के भेद से अजीव के भेद होते हैं। स्पर्श आदि से युक्त पुद्‌गल द्रव्य है जो कि अमूर्तिक है और शेष सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं। अनादिकाल से अनंतकाल तक निगोद वास में ही जीव रहते हैं। काल लब्धि के वश से कुछ जीव निगोद वास से निकलकर पृथ्वीकाय आदि जीवों में जन्म लेते हैं। असंख्यकाल तक उन पृथ्वी आदि काय में परिभ्रमण करके किसी भी प्रकार से उन से भी निकलकर त्रस पर्याय को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से यह त्रस पर्याय दुर्लभ पर्याय है और उस त्रस पर्याय में कभी यह जीव मनुष्य पर्याय को प्राप्त करता है।

उस मनुष्य जन्म में भी आर्य देश में मनुष्य की उत्पत्ति होना सुलभ नहीं है। आर्य देश में भी उच्च गोत्र में उत्पत्ति होना सुलभ नहीं है। मनोहरपना मिलना, नीरोगता मिलना, पूर्ण मनुष्य की आयु पर्यंत तक जीवित रहना और निष्पाप होना हे जीव! यह सुलभ नहीं है। चरित्रवान् गुरु का संयोग मिलना, श्रेष्ठ धर्म के सार को सुनकर हर्ष भाव उत्पन्न होना, सम्यक्त्व का भाव उत्पन्न होना तथा सम्यग्ज्ञान होना और उससे भी ज्यादा

कष्टप्रद है सम्यक्चारित्र को धारण करना। कषायों से रहित विशुद्ध आचरण होना, अरे! इस तरह के विशुद्ध आचरण का पालन करना तो अति दुर्लभ है तथा उस विशुद्ध आचरण को समाधि के द्वारा पर जन्म में ले जाना तथा संपूर्ण ज्ञान अर्थात् परम केवलज्ञान को प्राप्त कर लेना उससे भी दुर्लभ है। परम्परा से इस प्रकार से सार और असार को जानकर भी जो जीव मोह के कारण से मोहित हो जाते हैं वे सारभूत रत्न को प्राप्त करके भी धूलि और भस्म के निमित्त उस रत्न को जला देते हैं।

जिनेन्द्र भगवान् के कहा हुआ धर्म अहिंसा रूप है। वह अहिंसा धर्म स्वयं के और सभी जीवों के उपकार का प्रमुख कारण है। उस अहिंसा धर्म का बाहरी स्वरूप दूसरे जीवों का वध नहीं करना है तथा अभ्यन्तर स्वरूप राग और मोह की हानि करना है। सम्यक्त्व के साथ दस धर्म से पवित्र हुआ सागार और अनगार के भेद से वह धर्म दो प्रकार का है। उस धर्म का संपालन करके मनुष्य सिद्ध बनते हैं तथा श्रेष्ठ हुए हैं।

इधर घर में पिता मल्लप्पा बहुत दिनों से क्रोध को प्राप्त हैं। जब एकबार विद्याधर की दीक्षा का समाचार सुनाया गया, तो भी मल्लप्पा उसका विश्वास नहीं करते हैं। स्वाध्याय करते हुए मेरे चालीस वर्ष बीत गये हैं। ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है, जो एक साथ मुनि दीक्षा दे दे। यह सब झूठ है। तार के माध्यम से फिर से संदेश आ गया। इससे बड़े भाई महावीर के हृदय में निश्चय हो गया। रेडियो को बेचकर प्राप्त धन से माता-पिता का अभिवादन करके, वह अजमेर के लिए निकल गए। आकर के वह देखते हैं– कोई महोत्सव हो रहा है, जिस कारण से अजमेरपुरी देवकन्या की तरह सजी हुई है। सभी ओर तीव्र वेग से लोग आना-जाना कर रहे हैं। चारों ओर मृदंग, ढक्का वाद्य यन्त्रों के द्वारा दिशाओं के अन्तराल को बहरा कर दिया है। ऊँची अट्टालिकाओं पर बालक और महिलाओं का समूह ऐसा लग रहा है, मानो सभी जाति और कुल के लोगों का एक जगह कोई सम्मेलन हो रहा हो। जय-जयकारों से किसी अद्भुत आयोजन की तरह यहाँ वहाँ देखते हुए महावीर हाथी पर बैठे हुए विद्याधर के नयनपथ के सम्मुख आ जाते हैं। अनुज विद्याधर ने संकेत किया–यही

भाई महावीर हैं।

तदनन्तर उन्हें भी गज के ऊपर बिठाया गया। बाद में समारोह स्थल पर महावीर ने मंच से परिचय दिया। उसके बाद केशलुंचन प्रारम्भ हुआ। गर्मी के दिनों में काले-चिकने-घुँघराले बालों का उखाड़ना अत्यन्त दुष्कर कार्य था, फिर भी साहसी पुरुषों को कुछ भी दुष्कर नहीं होता है। साहसी पुरुष तो दुष्कर कार्य में ही आनन्दित होते हैं। उन पुरुषों का पर्वत पर आरोहण घर की नसैनी की तरह होता है। समुद्र को तैरना छोटी सी नदी की तरह होता है, स्वर्ग में गमन तो नगर में भ्रमण की तरह होता है, अपने हाथ से केशों का उखाड़ना खेत की घास उखाड़ने की तरह होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट वैराग्य को सच्चा देखकर कितने ही लोग ऊँचे स्वरों से वैराग्य भावना पढ़ रहे हैं, कितने ही बारह भावना का उच्चारण कर रहे हैं, कितने ही आप धन्य हो, आप धन्य हो ऐसी रटना लगा रहे हैं, कितने ही देह की निरीह वृत्ति को अपने चित्त में भा रहे हैं, कि वे ही विस्मय से कुछ भी नहीं बोल रहे हैं, कितने ही जय-जयकारों से अनुमोदन कर रहे हैं, कितने ही चुपचाप बैठे हैं, कितने ही णमोकार मंत्र कह रहे हैं, कितने ही पुनः पुनः प्रणाम कर रहे हैं, कितने ही दूसरों को बुला रहे हैं, कितने ही उनकी माता को धन्यवाद, कितने ही उनके पिता को धन्य-धन्य, इस प्रकार वर्णन करते हैं, कितने ही धैर्य की प्रशंसा कर रहे हैं। निर्ग्रन्थ होकर वह विद्याधर जिनेन्द्र प्रतिमा की तरह कायोत्सर्ग से स्थित हो गये। ३० जून, १९६८ का वह शुभ दिन था। अन्य की क्या बात? अकाल में उस मरुस्थल में मेघ भी पाँच मिनट तक वर्षा करते रहे। परोक्ष में देव दानवों ने भी चिंतन किया, कि इस दुखमकाल में भी सौभाग्य का सारभूत पुण्यवान कामदेव को जीतने वाले सौम्यरूप देह का दर्शन सभी के नयनों को आनन्दकारी हो रहा है। मुनि संस्कार विधि को निष्ठापित करके मुनि ज्ञानसागरजी ने प्रबोधन किया- ''अब अपने आत्म-कल्याण के लिए हमेशा बढ़ते रहना है। जो जीवन बीत गया है, उसके विषय में क्षणभर भी चिंतन नहीं करना। मुनि का धर्म ऊपर देखकर चलने का होता है। उसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति का होता है। उसके विपरीत गृहस्थ नीचे देखकर चलता है, क्योंकि उसकी संसार अवस्था

रहती है। गृहस्थ ने यदि अपने बड़े से ईर्ष्या और छोटे से घृणा की, तो उसका कल्याण नहीं हो सकता है।'' यह सारभूत वचन नये मुनि के संतप्त हृदय में अमृत सेवन की तरह आत्मसात हो गये। उनका नाम गुरु के द्वारा उद्घोषित हुआ–'मुनि विद्यासागर'।

तभी भागचन्द्र जी सोनी कहते हैं–''ऐसा सौभाग्य पहले नहीं प्राप्त हुआ। मेरे जीवन का यह अभूतपूर्व आयोजन है।'' श्री हुकुमचद्र जी लुहाड़िया और उनकी पत्नी ने दीक्षित मुनि के माता-पिता के कर्तव्य की पूर्ति की। उन्होंने दान के साथ शीलव्रत को भी ग्रहण किया। धर्मपरायण दानशील नगर के श्रेष्ठी प्रमुख भागचन्द जी 'सोनी' इस उपनाम को धारण करने वाले सेठ के घर में प्रथम पारणा सम्पूर्ण हुई। तदनन्तर बहुत परिश्रम और बहुत गर्मी होने से मुनि विद्यासागर जी पाँच-छह दिन तक ज्वर व्याधि से पीड़ित रहे। अपने पुत्र विद्याधर की दीक्षा का समाचार सुनकर माता विलाप करती है–हा! हा! पुत्र तुमने यह क्या किया? तत्काल ही धरती पर रोती हुई वह मूर्च्छा से गिर पड़ी। जागृत होती हुई, शोक करती हुई क्षण-क्षण में वह फिर धरती पर गिर पड़ती हैं। पूजा से, याचना से जैसे कैसे पुत्र की प्रार्थना से, बहुत प्रकार की आराधना से और बहुत प्रयत्न से तुम प्राप्त हुए। यह रूप, कुल, लावण्य, बुद्धि, बल, यौवन और अनारोग्य यह बहुत पुण्य से मनुष्य प्राप्त करता है। उस सबको तुमने कैसे छोड़ दिया। कुल, ग्राम, नगर, खेत, पिता, माता, बंधु, बहिन और अच्छे मित्र इन सभी को छोड़कर तुमने दीक्षा में बुद्धि क्यों की? राजा के बिना नगर, जल के बिना सरोवर जैसे शोभित नहीं होता है, उसी प्रकार क्या इस संसार में पुत्र के बिना माता और घर शोभित होते हैं। इस संसार में सभी माँ के पुत्र अपनी शक्ति से माँ को दुख से छुड़ाते हैं। फिर मेरा शोक, दुख हे पुत्र! तुम क्यों नहीं दूर करते हो? वीर पुरुषों के द्वारा आचरण किये जाने वाले कार्य हैं, एक बार ही भोजन-पान करना और केशों का लोंच यह सब तुम शुभ शरीर में कैसे करोगे?

हमेशा परीषह को सहना, वर्षाकाल में, ग्रीष्मकाल में और शीतकाल में हमेशा वस्त्र रहित शयन तथा दूसरे के घर में मौन-पूर्वक भोजन तथा

सर्वकाल चाहे व्याधि हो या बुढ़ापा नग्न रहकर ही निर्विकार चर्या करना देवों को भी विस्मय करने वाली है। शोकाकुल माता भोजन-पान की रुचि से विरक्त हो गयी और ऐसी दुर्बल हो गयी मानो किसी रोग से पीड़ित हो गयी हो। जब मल्लप्पा ऐसा देखते हैं, तो वह समझाते हैं, कि श्रीमंती! इस दुर्लभ जन्म का नाश मत करो। शोक ही महा अग्नि है, जो इस शरीर और परलोक को जलाती है। बहुत पुण्य से ही यह जीव अपनी इच्छा से मोक्षमार्ग में जाता है। लोक में जैसे तीर्थंकर की माता ही धन्य मानी जाती है।

कितनी ही माँ के पुत्र गर्भकाल में मर जाते हैं, कितने ही पुत्र उत्पन्न होते ही मर जाते हैं, कितने ही पुत्र दुर्घटना से मर जाते हैं और कितने ही रोग से पीड़ित होकर मर जाते हैं। आयु कर्म की परतन्त्रता से ही सभी जीवों को संयोग होता है। जो पुरुष इस दृढ़ स्नेह के बंधन को छोड़ता है, वह लोक में दुर्लभ है। ऐसा सोचकर पुण्यवान पुत्र में शोक मत करो। हमेशा अपने सौभाग्य को मानते हुए, उस पुत्र के दर्शन की इच्छा से चलना चाहिए। तब मल्लप्पा परिवार सहित उस जिनदेव के रूप को देखने के लिए चल देते हैं। मन में सोचते हैं, कि मेरे करने योग्य कार्य पुत्र ने कर लिया।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला श्रमणसूर्य संज्ञक पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

छटवाँ सर्ग

गुरु जीवन दर्शन

श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र भगवान् के निकट होने से लोक के घनीभूत दुखों की शान्ति होती है, क्योंकि वह भगवान् उग्र वंश के हैं तथा अपने चैतन्य धाम की चैतन्यमात्र अग्नि के द्वारा अपने घातिकर्म प्रकृति के विनाशक हैं। जिन्होंने स्वयं प्रतिबुद्ध (वैराग्य को प्राप्त) होकर दश धर्म रूपी अग्नि के द्वारा अनादिकाल से चली किट्टिमा को बारह वर्ष में नष्ट कर दिया, ऐसे हे वीर! हे जिनेन्द्र! मेरी रक्षा करो।

पूर्व में अर्जित मेरे पाप कर्म से किसी व्यक्ति के द्वारा मेरा प्रयास नष्ट किया गया, फिर भी मैं अपने कार्य से विराम नहीं लूँगा। अर्जुन अपने उत्कृष्ट लक्ष्य से स्खलित कैसे हो सकता है?

न कोई दुर्जन है, न कोई सज्जन है और न कोई अपना है, इस प्रकार जो व्यक्ति सभी में समता चारित्र को धारण करता है, वह मुनि है। उस मुनि के लिए दुख-सुख रूप कहा जाने वाला विधि का विधान क्या करे ? अर्थात् जो समभाव धारण करता है, उस मुनि के लिए दुख सुख कोई वस्तु नहीं है। दीपक का नाश हो जाने पर, प्रकाश का नाश नहीं हो जाता है, वीणा का वियोग हो जाने पर, आनन्द का नाश नहीं हो जाता है और सञ्चिका (कॉपी, डायरी) के चले जाने से ज्ञान का नाश नहीं हो जाता है, क्योंकि प्रकाश, आनन्द और ज्ञान शरीर में न रहने वाली अर्थात् हृदय में रहने वाली चीज हैं।

यह भारत भूमि वधू के समान है, अत्यन्त सुख और इष्ट वस्तु को देने वाली है। जिस प्रकार वधू अपने हास्य विलास से कुल को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार यह भूमि अपने वैभवविलास से कुलकरों की भूमि को प्रकाशित करती सुशोभित होती है। ऐसी भूमि में किसी मुनि श्रेष्ठ को कोई कष्ट नहीं होता है। इस भूमि पर वृषभ-आदि जिनेन्द्र-प्रभु उत्पन्न हुए हैं। वह प्रभु सुमेरु-पर्वत पर तीन लोक को शोभित करने वाले जन्मकल्याणक महोत्सव में देवों के समूह से गाये जाने वाले गीतों से स्तुत हुए हैं। ऐसी वह परम पवित्र भूमि मुझे पवित्र करे।

अनेक प्रकार के पर्वत, राज्य, समुद्र और अनेक प्रकार की भाषा वचनावली को प्रदान करने वाली यह वसुन्धरा (पृथ्वी) ऐसी सुशोभित होती है, जैसे दीपों की माला सुशोभित होती है और अपनी तरह सभी को प्रकाशित करती है अर्थात् जैसे दीप भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु प्रकाश समान होता है, उसी प्रकार अनेक विविधताओं में भी यहाँ आत्मज्ञान समान रूप से प्रकाशित है। क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए महाराणा प्रताप जैसे सपूत और भामाशाह तथा अमरचन्द दीवान जैसे विशिष्ट राजपूतों से जो पृथ्वी पहले सुशोभित हो चुकी है।

जो विशाल सारभूत राज्य है तथा भिन्न नाम वाला है, ऐसा वह राजस्थान प्रान्त सत्यसंज्ञा वाला है। इसी कारण से वर्तमान में इस भूमि पर हमेशा देशवासियों के द्वारा 'राजस्थान' इस प्रकार कहा जाता है। उसी प्रान्त में, सीकर नामक जिले में, महाराणाप्रताप के नाम से भोगों की धारा से परिपूर्ण बहुत विस्तृत 'राणोली' नाम का ग्राम है। वह ग्राम श्रेष्ठ जाति वालों और सेठियों से अच्छी तरह भरा है। जिसमें सुखदेव नाम के श्रेष्ठी गुणों में रुचि रूप बुद्धि के साथ रहते थे।

यह सुखदेव अपने पुत्र के मुखकमल के अवलोकन के सुख से अपने 'सुखदेव' नाम को सार्थक मानते थे। पुत्र प्राप्ति के निमित्त से अपनी भुजाओं का बल दूना अनुभव करते थे, इसलिए उन्होंने पुत्र को 'चतुर्भुज' की संज्ञा से पुकारा। देह की वृद्धि के साथ पुण्यरूपी देह की वृद्धि वाले चतुर्भुज ने समय-समय पर स्त्री, धन और वैभव का आश्रय लिया था।

श्रीमान् चतुर्भुज की भुजाओं में रमण के स्थान को प्राप्त जिनकी स्त्री सौभाग्यवती घृतवरी थी। इन दोनों के पाण्डु के पुत्र की तरह प्रपञ्च से रहित पाँच पुत्र उत्पन्न हुए और छठवाँ पुत्र जन्म होने पर मरण को प्राप्त हुआ।

धर्म, धन और काम पुरुषार्थ में परायण उस दम्पति के कामपुरुषार्थ के फल से बालभानु के समान लाल-पीली कान्ति युक्त भाल (मस्तक) वाला, अपने गोत्र से खण्डेलवाल छगनलाल नाम का पुत्र जन्म लिया। दो वर्ष के बाद प्राप्त हुए पुत्ररूपी धन की क्षेम-भावना के साथ एक कुशल

राजा की तरह नये पुत्र युगल के संयोग को भी सुखदेव ने प्राप्त किया। प्राप्त हुए धन की रक्षा करना राजा की नीति होती है, उसी की यहाँ उपमा दी। जन्म के क्षण से ही यह दोनों पुत्र क्षण भर में नष्ट होने वाले इन्द्र धनुष की तरह लोगों के मानस में मृत प्रायः प्रतीति में आये। स्थानीय, प्रबुद्ध, नगरवैद्य के द्वारा उपचार किये जाने पर कुछ संज्ञा (चेतना) को दोनों पुत्र प्राप्त हुए। ऐसा जानकर माता-पिता के मन में उल्लास की प्राप्ति हुई। बन्धु-सम्बन्धी आदि जनों के द्वारा किये गये अनेक प्रकार के मन्त्र, स्तोत्र आदि के द्वारा भी उनमें से एक पुत्र मरण को प्राप्त हो गया। पूर्व जन्म में किये पुण्य के योग से दूसरा पुत्र आयुष्मान हुआ।

सत्य ही है-आपस में साथ रहने वाला, साथ में भोग करने वाला, सहयोगी, एक समान आयु वाला हो, फिर भी भावों के अनुसार पाप-पुण्य के फल का ही जीव अनुभव करता है। इसलिए मोह को छोड़कर जिनधर्म को धारण करो। निदान शल्य को छोड़कर मृत्यु को प्राप्त करो। धर्म के बिना मन के परिताप की शुद्धि नहीं होती है। शुद्धि के बिना बुद्धि इस पृथ्वी पर सुख को प्राप्त नहीं करती है। समान अन्तर से बढ़े हुए दो बालों की तरह बालकों में एक बालक नष्ट हो गया। इधर गौर वर्ण, भासुर देह, कमल के समान बड़ी आँखों वाला दूसरा पुत्र पूर्वभव में अर्जित पुण्य के फल के कारण इस संसार को देखने लगा। सब कुछ नष्ट होने से, जो बच गया, वही ठीक है इस प्रकार दम्पती ने सन्तोष की श्वांस ली क्योंकि-इस संसार में वस्तुतः न कहीं दुख है और न कहीं सुख है। प्राप्त वस्तु के वियोग होने पर दुख और पुनः उसी का संयोग होने पर सुख हो जाता है। कहीं भी किसी वस्तु का न नाश होता है और न किसी वस्तु का आगमन होता है। यह आना-जाना तो गेंद का किसी अन्य के हाथ से अपने हाथ में आने जाने की तरह है। प्रौढ़ व्यक्ति क्रीड़ा में आसक्त बालकों को देखकर उन्हें खेलने से रोकता है। उन्हीं व्यक्तियों की विषय क्रीड़ा को जानकर उन्हें यहाँ कौन समझाये? इस प्रकार विचार करने पर भी भाग्य देवता के प्रताप से बाकी बचा हुआ अपने हृदय का टुकड़ा ही हो, इस तरह देखकर स्नेह भार से सहित होने के कारण पिता शोक की खिन्नता को दूर करने के लिए समर्थ

हुए। बालक के मुख से निकली हुई रुदन की लगातार ध्वनि को सुनकर दुग्ध-पान के समय झरते हुए अकृत्रिम स्नेह की धारा से जिनके शरीर में रोम हर्ष कण्टक उठ रहे हैं ऐसी वह माँ समस्त दुखों से रहित शरीर वाली हुई। तभी जन्म महोत्सव के आनन्द से भरे हुए सगे-सम्बन्धी हृदय में उल्लास को धारण कर लिये। मस्तक पर रखे गये घृत के लेप से और गोरोचन से युक्त कण्ठ भाग से बाल रक्षा विधि की गयी। कपोल (गाल) के मध्य काला बिन्दु लगाकर पर दृष्टि (नजर) लगने से रक्षा की गयी। भविष्य में होने वाले सभी उपद्रवों का नाश करने के लिए श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर विधान की ध्वनि गूँजी और भुजाओं में मन्त्र लिखे पट्ट को बाँधने से वह शिशु परिपुष्टि को प्राप्त हुआ। शरीर के लक्षणों से वह पुत्र द्वितीय होता हुआ भी, अद्वितीय दिखाई देता था। उसके बाद नाम संस्कार विधि में 'भूरामल' इस नाम से कहे गये। कुछ दिनों में भद्रातिथि में उदित हुए चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि की तरह धूलि धूसर क्रीड़ा, स्खलद्गति (टेढ़े मेढ़े चलना) से चलना, ऊपर मुख किये सोना, खिले हुए मुख कमल आदि को करता हुआ, वह पृथ्वी पर आनन्द को बढ़ाता हुआ वृद्धि को प्राप्त हुआ। घर में ही माँ ने व्यंजन, स्वर, गणित आदि प्रारम्भिक ज्ञान की शिक्षा दी। फिर भी विद्यालय में बालक का प्रवेश केवल प्रमाण पत्र के लिए था। प्रतिदिन देवाधिदेव के प्रतिबिम्ब का दर्शन करने से बढ़े संस्कार के कारण मन में परोक्ष में भी भगवान् का बिम्ब संक्रमित होता था। ''सुख से बीता हुआ काल निमेष की तरह लगता है।'' इस नीति के अनुसार भूरामल माता-पिता-भाई-परिवार जनों से लालित-पालित हुआ और दशवर्ष एक निमेष की तरह व्यतीत हो गये। जब हमेशा महापुरुषों के जीवन में एकरूपता नहीं रहती है, तो फिर क्षुद्र जीवों के जीवन में एकरूपता क्या हो सकती है? इस प्रकार का उपहास करता हुआ ही मानो काल आ गया।

वियोग और संयोग से उत्पन्न कार्य के धारी संसारी जीव के दिन हमेशा एक से नहीं रहते हैं। कभी घी मिलता है, तो कभी चना मिलता है, कभी दोनों ही नहीं मिलते हैं। धुरा क्रम से सब कुछ क्षणिक होकर चलता है।

भूरामल जब जन्म से दश वर्ष के हुए, तो पिता के वियोग से उन्हें दुख की प्राप्ति हुई। सुख की प्राप्ति के समय पर ही वियोग को भोगना पड़ा। ठीक ही है, दाख के आने पर काक के गले में रोग हो जाता है। कुल की वृद्धि करने वाले तब दश वर्ष के समयान्तराल में दो पुत्र हुए थे। इधर पुत्र का जन्म हुआ और इधर पिता यम के मुख में चले गये। इस प्रकार हो जाने पर भ्राता समूह के हृदय में चिन्ता हो गई, कि हम पाँचों का सुख से परिपालन कैसे होगा। जीविका का आश्रय शीघ्र ही नष्ट हो जाने पर बड़े भाई के हृदय में चिन्ता हुई। चूँकि घर का पालक जो था, वह ही मृत्यु को प्राप्त हो गया तब मुझ अभागे के जीवन से क्या? हा! सभी आत्माओं में एक जिजीविषा (जीने की इच्छा) ही सबसे बढ़कर के देखी गई है। प्राणों को छोड़कर कोई भी किसी दूसरे में स्नेह का अनुबन्ध नहीं करता है। मेरे हृदय में यह बात स्पष्ट प्रतीत हो रही है, कि स्नेह के बन्धन में यह लोक स्वार्थ के लिए ही प्रवृत्ति करता है।

विशेषार्थ—किसी के स्नेह में कोई भी अपने प्राणों को नहीं छोड़ता है, क्योंकि सबके भीतर सबसे बड़ी इच्छा जीने की इच्छा होती है। अनादि संसार से मूढ़मति की यह प्रवृत्ति मिथ्या-रूप है और व्यवहार से है। मोह से अभिभूत होने से यह प्रवृत्ति सुख का आभास देती है। विषयों में यह संलग्नता त्याग करना बहुत कठिन है।

वृक्ष के नष्ट हो जाने पर बन्दर की तरह सुखी कैसे हो? सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर चकवा के विरह दुख के समान, समुद्र के मध्य अचानक पतवार टूटे हुए मल्लाह के नाव संचालन की तरह, रात्रि में बिजली चले जाने की तरह, दीक्षा ग्रहण के समय ही गुरु के विरह की तरह, प्रलय कालीन वायु के प्रवाह में प्राण रक्षण की तरह, 'सुनामी' लहरों के कुपित होने पर शरीर धारण की तरह, बीस-बावीस वर्ष के ज्येष्ठ पुत्र ने सभी तरह से अपने को अयोग्य मान लिया। वह अग्रज होने से रोना भी नहीं कर सकते और स्व-पर को पालन करने में भी असमर्थ हो रहे थे। बाल होने से दूर-बहुत दूर तक थके हुए कबूतर की तरह, इस अपार संसार-समुद्र में वह असहाय हो गये। समस्त सुखों की वस्तु से भरे हुए भी इस संसार में

शून्यता की भावना करते हुए, मन के दुख को प्रकट नहीं करते हुए भी, मन में आँसू पीते हुए, अपने जीवन को निष्फल के समान मानते हुए, कि किंकर्तव्यविमूढ़ हो शोक के कारण किसी पिशाच से ग्रहण हुए के समान उनका मन कहीं नहीं लगता था। तभी उनके परिचित लोगों ने उन्हें देखा और समझाया–जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी निश्चित है। इस परिवर्तन रूप संसार में यह स्वभाव से चलता रहता है।

जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है। निश्चित रूप से सदा होने वाले कार्य में ज्ञानी जीव माध्यस्थ भाव धारण करते हैं। तीन लोक में रहने वाली सभी वस्तुएँ काल रूपी राक्षस से घिरी हुई हैं। इसलिए मित्र! कोई भी वस्तु वस्तुतः शाश्वत नहीं दिखाई देती है। वह दृष्ट–अदृष्ट पर्याय वाला महाकाय कालरूपी राक्षस सदा, सर्वत्र, सब जगह जाने वाला, सभी वस्तुओं में रहता है। क्या आपने पहले राम–सीता का वियोग नहीं सुना है, अपने पति से अञ्जना का और माँ से जीवंधर का वियोग क्या आपने नहीं सुना है। प्राणी का वियोग हो जाने पर और अपनी इष्ट वस्तु के नष्ट हो जाने पर श्रेष्ठ बुद्धि वालों को वही भावना करनी चाहिए, जिससे मन शोक से व्याप्त न हो। जो शोक करने लायक नहीं है, उसका तुम शोक करते हो। इस लोक की मूर्खता पर शोक क्यों नहीं करते हो, जिससे यह संसारी प्राणी बार–बार दुख को प्राप्त करता है। जिसका मन शोक से व्याप्त है, उसका शरीर नष्ट हो जाता है। देह के नष्ट हो जाने पर सुख कैसे हो? सभी लोग सुख के लिए ही तो प्रयत्न करते हैं।

अरे बन्धो! आपको वह करना चाहिए जिससे माँ को, बन्धुओं को तथा सगे सम्बन्धियों का हित हो और इह–पर लोक के हित के लिए कुछ करना चाहिए। इस प्रकार किसी समझदार के वचन सुनने मात्र से घने अन्धकार में मेघ–समूह के बीच प्रकट हुई बिजली की रेखा के समान सुखदेव के मन में विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने अपने गाँव तथा अपने राज्य में कृषि, व्यापार, नौकरी, विषय–सुविधा की कमी को जानकर आजीविका के लिए और अपने घर–परिवार के पोषण के लिए अन्य राज्यों

में चले गये ग्रामवासियों का समीचीन परिचय बुद्धि की किरणें फैलाकर किया। बहुत प्रकार से विचार करके और बुद्धि में साधन-साध्य के फल को परिवर्तित करके सोचकर ''बिहार प्रान्त में चलना चाहिए'' ऐसा निश्चित किया और माँ को अपना अभिप्राय बताया।

पुत्र की दूरदर्शिता को जानकर माँ कुछ प्रसन्न हुई, फिर पुत्र के दूर चले जाने से कुछ रोती रही। आये हुए कष्टों का और कोई उपाय नहीं है, यह सोचकर घृतवरी माँ ने माध्यस्थ बुद्धि को धारण किया। लोभ से रहितपना, पर-स्त्री और परधन की अभिलाषा नहीं होना, अर्जित किये धन में सन्तोष होना इत्यादि उपदेश देकर पुत्र के झुके हुए मस्तक को सूँघकर, सैकड़ों आशीषों से राम को वनवास के लिए कौशल्या माँ की तरह सहनशील माँ ने किसी तरह अपने पुत्र को भेज दिया। वह सुखदेव अपने से कुछ कम उम्र वाले भूरामल को पुत्र के समान मानते हुए अपनी कार्य-योजना के विषय में सब कुछ कहकर तथा गंगादत्त, गौरीदत्त और देवदत्त नाम के छोटे भाइयों को प्रेमरूपी शीतल जल से सिंचित करके बिहार राज्य में स्थित 'गया' नगर के लिए चले गए। उसके बाद भूरामल गाँव के विद्यालय में मनोयोग से अध्ययन करने लगे। कुछ वर्ष बीतने पर वह करने योग्य विषय के बारे में सोचने लगे।

अपने ग्राम में जो शिक्षा और सुविधा है, उसके अनुसार हमने अच्छे से पढ़ लिया। आगे पढ़ने के लिए शिक्षक नहीं हैं, अब मैं क्या करूँ? बिना पढ़े-लिखे को न कहीं शरण है और न कोई आजीविका। विद्या के बल से ही लोक हित में प्रवृत्ति होती है, विद्या बल से ही अपने लिए निवृत्ति (सुख) होती है। विद्या के उपयोग से ही विषम स्थान में भी प्रवेश हो सकता है। ठीक ही है-गाय भले ही घास खावे पर, उसी से उसमें थोड़ा दूध आता है।

जो यह कहा जाता है, कि शरीर का सुख पहला सुख है और दूसरा सुख घर में धन-समृद्धि हो। हे मन! वह ठीक ही कहा जाता है क्योंकि देह सुख और धन के बिना क्या कोई कार्य साधा जा सकता है, यह बताओ? अर्थात् भूरामल ने ''पहला सुख निरोगी काया दूजा सुख हो घर में माया'' इस उक्ति का विचार किया।

कोई भी पदार्थों का समूह मेरे भाग्य में है अथवा नहीं है, यह तो पुरुषार्थ करने पर ही जाना जा सकता है। पुरुषार्थ करने पर भी यहाँ जब सिद्धि न हो तभी भाग्य नहीं है यह सिद्ध होगा। भ्राता के दिये धन का सेवन करने पर, तो मुझमें कर्तव्यनिष्ठा शोभित नहीं होती है। इस प्रकार बुद्धि में विचार करके भूरामल माँ के पास जाकर वस्तु-स्थिति को कहने लगे। तट के निकटवर्ती भाग जल से भरे हैं। और जिसके मध्य में उज्ज्वल रत्न और मोती हैं ऐसा समुद्र अच्छा कर्म करने के लिए ही मानो उदित होता है और मानो कह रहा हो- अहो! दरिद्र क्यों हो? लक्ष्मी को प्राप्त करो। तात्पर्य यह है, कि लक्ष्मी से भरा समुद्र हमारे समक्ष है, पर रत्न निकालने का पुरुषार्थ तो हमें करना ही होगा इसलिए माँ! मैं 'गया' नगर में जाऊँगा, जहाँ पर मेरा ही बड़ा भाई रहता है। जैसे एक पंख दूसरे पंख की सहायता की इच्छा करता है, जैसे लक्ष्मण नारायण भाई राम की सहायता करने के लिए भिक्षु बन गये, वैसे ही मैं भी अपने भाई की सहायता करूँगा।

इस प्रकार नयनों को मनोहर लगने वाले प्रिय पुत्र के अन्यत्र जाने की बात सुनकर जन्मदात्री माँ विलाप करने लगी। मैं जिस-जिस की इच्छा करती हूँ, वहीं मुझे छोड़कर चला जाता है। मेरे स्वामी परलोक सिधार गये। बाद में मेरा बड़ा बेटा परदेश चला गया और अब तुम भी अन्यत्र जाने के लिए तैयार हुए हो। सभी को धन की पड़ी है, माँ के सुख का कुछ भी मूल्य नहीं है। मैं अभी प्रसव की वेदना भुला नहीं पायी और दूसरी पीड़ा सामने आ गयी। सही सुना है कि सुख सुख को ही बाँधता है और दुख दुख को ही।

माँ! दुखी मत होओ। मैं तुम्हें छोड़ के नहीं जा रहा हूँ। जो माँ को दुखी करता है, वह तो खोटा पुत्र होता है। माँ! हित की इच्छा से मेरी बात सुनो-इस गाँव में विद्या अध्ययन है नहीं, विद्या के बिना जीवन पशु तुल्य ही होता है। क्या आप यह चाहती हैं, कि आपका पुत्र मूर्ख हो। मेरे मन में धन की आसक्ति नहीं है। अन्यत्र चले जाने पर मैं धन और विद्या दोनों एक साथ साधूँगा।

भूरामल की भावना को सुनकर जिसके मुख पर दुख कुछ कम हुआ

हो। ऐसी माँ स्थिर-चित्त के साथ कहने लगी–बेटा! अनुराग रखने वाले जनों की सभी वस्तुओं में एक समान वृत्ति नहीं होती है। इन आँखों में तुम्हारी छवि के प्रतिबिम्ब बिना मैं जी नहीं सकती हूँ। नये किसलय की उत्पत्ति के समान अल्प उम्र पर आरूढ़ हुए छोटे भाइयों को छोड़ना तुम्हें योग्य नहीं है। दूसरी बात यह है, कि परदेश में रहने पर जो कष्ट होता है, मन भयभीत रहता है, प्रत्येक कार्य में असमर्थता रहती है, कोई भी आत्मीय-जन नहीं होते हैं इत्यादि कष्टों को कैसे सहोगे? इसलिए बाल हठ को छोड़कर सुख से यहीं पर रहो। फिर समीचीन उत्साह से युक्त पुत्र कहने लगा–माँ! जो जीव इन करने योग्य कार्यों में मोह को प्राप्त होता है, वह इस लोक और परलोक के सुख को छोड़कर सभी जगह दुखी रहता है और जिनेन्द्र भगवान के भक्तों को भय किस बात का? दुख की भावना करने वालों को दुख क्या वस्तु है? जो अच्छी तरह समर्थ है, उन्हें कष्ट क्या? और जो प्रिय वचन बोलते हैं, उनके लिए पर (अनात्मीय) कौन है?

जो माँ के प्रिय है, उनके लिए क्या प्राप्त नहीं है?, जो विवेकी हैं उनके लिए विदेश क्या है?, दृढ़चारित्र वालों को दुष्ट कौन है? और जो परिश्रमी हैं, उन्हें क्या दूर है? रागजनित मन कमल से खिले हुए पुत्र की अपने संकल्प के विषय में दृढ़ता को देखकर संध्या के समान मध्यस्थ होती हुई माँ ने अपने आपको संभाला। तब परिजन-स्वजन और अन्य जनों में युक्त, उचित समाचार को करके माँ के चरण कमलों की विरह के अश्रुजल से प्रक्षालित करते हुए, भाई और मित्र की क्रीड़ा स्थानगत स्मृति को बुद्धि में अवधारित करके, बुद्धि की मोह परिणति को दूर करके वह बुद्धिमान् बड़े कष्ट से ''मोह वास्तव में बलवान है'' इस प्रकार अनुभव करते हुए मोह संसार से दूर हो गया।

बड़े भाई के सान्निध्य को प्राप्त करके अपने आगमन के कारण को कहा। अग्रज अपने भाई की स्वावलम्बिनी वृत्ति को जानकर मन से प्रसन्न हुए। किसी जैन श्रेष्ठी की दुकान पर अग्रज ने कुछ दिनों के लिए आजीविका के लिए भूरामल को नियुक्त कर दिया। वायु के समान निर्मल बुद्धि वाले भूरामल किसी के कहे बिना ही गया में पूर्वकृत धर्म से संस्कारित देवदर्शन

की विधि में सम्मत होते हुए विहरते रहे। जैन कुल में जन्म लेना तो निमित्त मात्र है, किन्तु अन्य जन्म में किये हुए पुण्य के फल से अपनी आत्मा की धर्म सेवन में योग्यता हर्ष से सदा बढ़ती रहती है। बड़े हुए जन्म रोग की औषधि देवपूजन, दान आदि छह प्रकार की है। उसके अनुरूप जीविका की कला सेवन करना चाहिए। यदि औषधि नहीं है, तो खुजाने से कुछ फल नहीं है।

सज्जनों की क्रिया समीचीन आचरण में रमण करना है और दुर्जनों की बुद्धि से दुश्चारित्र में रमण होता है। श्रेष्ठजन सज्जनों के मत का ही आचरण करते हैं। लोकमान्यतिलक के विषय में कोई तर्क नहीं होता है अर्थात् जो पुरुष लोकमान्य होता है, उसके विषय में कोई विचार नहीं करता है। अथवा 'लोकमान्य तिलक' राजनेता के विषय में क्या तर्क करना? जिन्होंने जेल में भी रात्रि-भोजन नहीं किया। हे बुद्धिमान् आत्मन्! इन देहधारियों में कितने सन्त पुरुष होते हैं, सदा यह चिन्तन करना चाहिए। बालूमय इस पृथ्वी में रत्न और मोती फल की सम्पदा हमेशा नहीं होती है।

इस प्रकार ही धर्म की मुख्यता से धन और चिन्तन की प्रमुखता सहित श्रेष्ठ आचरण को करते हुए, एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया। तभी भूरामल ने इस धरती पर कुछ विस्मय की वस्तु देखी।

मनोहर हंसों की पंक्ति के समान ही विद्यालय में पढ़े हुए अच्छे बालकों को देखा। उनकी वेष-भूषा और बोलचाल लौकान्तिक देवों के समान लोगों को आनन्दित करने वाली थी। इन विद्यार्थियों को देखकर भूरामल के चित्त में विचार उत्पन्न हुआ, कि ये किस नगर में पढ़ते हैं, जिससे इनमें ऐसी बुद्धि का वैभव उत्पन्न हुआ और मैंने इस प्रकार चिन्तन क्यों नहीं किया। पढ़ने के इच्छुक ये विभिन्न देशों से आये और वाराणसी में रहने लगे। ये सभी अपने देश और धर्म के हित में लगे है, इस प्रकार प्रत्युत्तर को प्राप्त करके भूरामल खिन्न हुए।

संसार के भावों का नाश करने वाली जो भावना भूरामल में ज्ञान प्राप्ति के लिए थी, वह पुनर्जीवित हो गई। जैसे बहुत समय से अत्यन्त सूखी हुई काई की पंक्ति एक मात्र जल सिंचन से पुनः हरी हो जाती है।

तभी भूरामल ने विचार किया–अहो! वास्तव में धन की तृष्णा बुद्धि का नाश करने में चतुर है। जिस तृष्णा के द्वारा हवा से हिलते हुए पीपल के पत्ते की तरह मन स्वभाव से ही इधर-उधर डोलता हुआ, विक्षिप्त रहता है। जो तृष्णा पिशाच की तरह हित-अहित की बुद्धि को ग्रस्त कर लेती है। मदिरा पान करके उन्मत्त हुए की तरह जिस तृष्णा से हृदय पीड़ित होता है। भूत से ग्रहण किये की तरह यह तृष्णा अपशब्द करती है। रात्रि के समान दोषों का भण्डार विषयी पुरुष विषयरूपी गड्ढे में जिसके द्वारा गिरा दिया जाता है। यह तृष्णा कुलटा स्त्री के समान सम्मोहन करती है, जो कि उत्कृष्ट कुल में जन्मे पुरुषों के मन को भी आकर्षित कर लेती है। कुलपर्वतों का भेदन करने वाली विषम जल की धारा के समान बीच-बीच में गिरकर स्नेह के बन्धन को भी यह तृष्णा उखाड़ देती है। माँ के चरणों में संकल्प करके भी मैं इस धन की तृष्णा से ठगा गया हूँ। इन्द्र के वक्षःस्थल पर रहकर, रावण प्रतिनारायण की भुजाओं का आलिंगन करके, नारायण के हृदय में जो दुष्ट तृष्णा ठहर गयी और इनको डंक मारती थी, वही तृष्णा आज भी उसी प्रकार ठग रही है। जो सर्पिणी के समान कुटिल मार्ग का अनुकरण करती है। पिशाचिनी के समान सब जगह प्रवेश कर जाती है। मेनिका के समान तपस्वियों के हृदय को भी विडम्बित करती है। वे ही धन्य हैं, जिन्होंने मिट्टी के समान राज्य सम्पदा को छोड़ दिया। वे ही बाल, कुमार धन्य है, जिन्होंने चित्र में बने हुए मिथ्या देवता की भी आराधना नहीं की है। वे ही कवि धन्य हैं जिन्होंने कवि सम्पदा को बेचा नहीं। वे विद्वान् ही धन्य हैं, जिन्होंने इस तृष्णा की दासता को स्वीकारा नहीं। वे राजकुमार ही धन्य हैं, जिन्होंने त्यक्ता स्त्री की तरह दूर से ही धन की तृष्णा को छोड़ दिया। वे पुण्यवान भी धन्य हैं, जिन्होंने तृष्णा विष को खाया और उन्हीं के द्वारा शीघ्र वह वमन कर दिया गया। वह गृहस्थ ही धन्य हैं जो कभी पक्षियों के समान इस तृष्णा के वशीभूत नहीं हुए। वही पुरुष धन्य हैं, जिनके ऊपर तृष्णा ने स्त्री के समान अपना अधिकार नहीं किया। वे ही धन्य हैं, कुलीन हैं, जो इस तृष्णा की महामायारूप गड्ढे में नहीं गिरे हैं।

इस प्रकार इन्द्र के समान जिन्हें स्मरण आया है, ऐसे 'भूरामल'

विवेक से जाग्रत होकर पिता के समान भाई को अपना अभिमत कहने लगे। भ्रात! विद्या-अध्ययन के बिना जीवन व्यर्थ लगता है। धन-संचय के मोह से मैं शास्त्रों के संस्कार के विषय में प्रमादी हो गया। अब मैं आप पर अतिरिक्त भार नहीं बनूँगा। वहाँ वाराणसी में भी मात्रा के अनुसार ही धन का अर्जन करके आत्म-संस्कार करूँगा। क्योंकि–ज्ञानवानों के द्वारा प्रथम वय में विद्या ही महान् तप माना गया है। उस तप में जो प्रमाद करते हैं, वे जीवन के अन्त में निश्चित ही शोक करते हैं। चरित्र से सहित विद्या जिनेन्द्र भगवान के द्वारा स्व-पर की उन्नति के लिए कही गई है और चरित्र रहित विद्या गन्ध रहित भात के समान है। जिनकी विद्या अर्थकरी (धन के लिए) है, उनको वह पाप की वृद्धि कराती है। ऐसी विद्या शरीर की तरह बाहर दिखने में तो मनोहर लगती है और भीतर मल धारण करती है। एक समीचीन विद्या ही धर्म, काम, धन इन त्रिवर्ग के लिए है। जैसे सूत्र हार को गूँथता है, उसी तरह अन्य श्रेष्ठ साधनों से क्या? बालकों को जो विद्या आजकल विद्यालयों में दी जाती है, वह आजीविका का हेतु होती है, स्व-पर हित से रहित होती है और मद उत्पन्न करती है।

परिश्रमी लोगों को क्या दुष्कर है? इस प्रकार से सोचकर बड़े भाई की अनुमति ग्रहण कर, रेलगाड़ी से वाराणसी के लिए 'भूरामल' ने प्रस्थान किया। वहाँ वह जा करके देखते हैं– यह बनारस नगरी बहुत शोभायमान है। यह नगरी ऊँची-ऊँची अट्टालिका और महलों से किसी महान पर्वत के समान है। दीवालों पर बने विचित्र अनेक रंगों के चित्रों से किसी चित्रकार की दुकान के समान समझ आ रही है। जो अति उदार चरित्र वाले पुरुषों से कल्पवृक्ष के समान शोभित है। पद्मरागमणि, नीलमणि और मोती की दुकानों से किसी अन्य समुद्र की संभावना कर रही थी। तेईसवें तीर्थंकर की जन्म-स्थली पहले की तरह आज भी मन को आनन्द देने वाली है। जो समुद्री तट के उमड़ते हुए तट की तरह किसी भील की बस्ती की तरह आपूरित दिशाओं के द्वारा दिखने में आ रही है। जो जिनालयों की ऊँचाई से मानो वह जिनवर प्रणीत धर्म का ही अतिशय रूप से बखान कर रही है। जो महा-प्रवाह से भरे हुए अनेकान्तरूपी तरंगों के द्वारा उत्कृष्ट जिन-तीर्थ के

अनादिकालीन प्रवाह को कह रही है। जहाँ कण्ठगत हार से युक्त स्त्रियों के मुख नक्षत्र समूह से युक्त रात्रि की तरह शोभित हो रहे हैं। काले-धुँए से युक्त गगन तल से वह नगरी ऐसी दिख रही थी, मानो जिनायतन में श्रावक निरन्तर आठकर्मों को जला रहे हों। वह नगरी अनेक कुटिल मार्ग से युक्त होते हुए भी अच्छी तरह देखने में आती है। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह नगरी अनेक प्रकार के कुटिलमार्ग अर्थात् गूढ़ गलियों से सहित थी। वह नगरी अनेक सर्पों से युक्त होकर भी छिद्र रहित थी। जहाँ सर्प बहुत होते हैं, वहाँ बहुत से बिल होते हैं, इस विरोध का परिहार यह है कि वह नगरी भोगि अर्थात् भोगी व्यक्ति से सहित थी। वह नगरी विलासिनी (वेश्या) होते हुए भी अन्य पुरुष में कामुक नहीं थी। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विलासिनी अर्थात् वैभव सम्पन्न थी। वहाँ अनेक प्रकार के चित्रों वाली भूमि होते हुए भी, किसी अन्य को विभ्रम उत्पन्न नहीं करती थी। इस विरोध का परिहार यह है कि वहाँ की भूमि विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की थी। वह नगरी अनेक प्रकार के चरित्र वाले (अर्थात् जिनका चरित्र स्थिर नहीं हो) लोगों से आचरित होने पर सदा सबके लिए स्वीकार्य थी। जिसका चरित्र स्थिर नहीं होता है, वह किसी के द्वारा स्वीकार्य नहीं होता है, इस विरोध का परिहार यह है कि वह नानाचरित्र अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के चारित्र वाले लोगों ने यहाँ आचरण किया है। बहुत प्रकार के भोगियों का स्थान होकर भी इसका चरित्र अखण्डित है, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह नगरी अनेक भुजंग अर्थात् सर्पों का स्थान थी। वह नगरी दोषों से भरी होकर भी गुणों का आधार थी, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह (दोषा+उल्लसिता) रात्रि में और अधिक सुशोभित होती थी। वह पति रहित होकर भी सौभाग्यवती थी, इस विरोध का परिहार यह है कि वह पति अर्थात् राजा से रहित होकर भी भाग्य सम्पन्न थी। वह पुष्पवती (रजस्वला) होकर भी स्पर्श योग्य थी, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह पुष्पवती अर्थात् फूलों से सहित थी। निरन्तर दानरूपी जल वाली स्थली होकर भी कलंक सहित थी। इस विरोध का परिहार यह है, कि निरन्तर मद को बहाने वाले हाथी से सहित स्थल होने से वह कलंक

कीचड़ से सहित थी। वह नगरी कहीं तो पद्मपुराण की कथा के समान वैराग्य से सहित थी, कहीं वह सीता के समान कुश-लव अर्थात् थोड़े से कुश सहित थी। कहीं पर वह चन्द्रमा के समान हरिण से सहित अर्थात् वहाँ हिरण घूमते थे। कहीं वह वेश्या के समान कुटिलता के रास्तों अर्थात् गलियों से सहित थी। कहीं पर वह विवाहमण्डप के समान विशिष्ट जनों से अर्थात् नगर के लोगों से भरी रहती थी। कहीं पर वह विदेह भूमि के समान जिनधर्म के प्रचार मात्र वाली थी। कहीं पर वह भवनवासी देवों के समान श्रृंगार किये कुमारों से सहित थी। कहीं पर वह विद्याधर की भूमि के समान तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि वाली थी। कहीं पर जिनमूर्ति के समान प्रशान्त स्थल वाली थी। कहीं पर वह नन्दन वन के समान भोगों के समूह वाली शोभा को धारण करती थी। कहीं पर नदी की तट भूमि के समान अनेक मतों से सहित तापसियों से युक्त थी, ऐसी वह वाराणसी नाम की नगरी अत्यधिक शोभती थी।

जहाँ पर दो जिनेन्द्र प्रभु (पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ) का जन्म हुआ था। जहाँ पर इन्हीं पूज्य जिनेन्द्रों के तप कल्याणक की पूजा की गई थी। जिसके बहुत पास में ही सिंहपुरी में श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा चन्द्रपुरी में श्री चन्द्रप्रभ भगवान का गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान कल्याणकों के अतिशय प्रमुख इन्द्रों के द्वारा बहुत अतिशय रूप से सम्पन्न हुए थे। युग की आदि में जहाँ अकम्पन नाम के राजा हुए थे, जिन्हें वृषभराजा ने यहाँ का राज्य प्रदान किया था। इसी नगरी में सबसे पहला स्वयंवर अकम्पन राजा की पुत्री सुलोचना का हुआ था। यहाँ पर केवलज्ञान लब्धि से सम्पन्न श्री पार्श्वनाथ भगवान विहार करते हुए आये थे। यहीं पर समन्तभद्रस्वामी की असाता कर्म के उदय से उत्पन्न हुई भस्मकव्याधि महादेव के मन्दिर में शान्त हुई थी। यहाँ आज भी गुदौलिया मार्ग में एक शिवालय में 'फटे महादेव' इस नाम से प्रसिद्ध खण्डित शिवपिण्ड रखा हुआ है। जो कि पचास वर्ष पहले समन्तभद्रेश्वर मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था; ऐसी प्रसिद्धि हैं। यहाँ पर हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि 'बनारसीदास' का नाम संस्कार इसी नगरी के नाम से हुआ था। जहाँ पर वैदिक सम्प्रदाय के शिवलिंग,

सूर्य, विनायक, भैरव, दुर्गा, नृसिंह, केशव के मन्दिर अनेक सम्प्रदाय से उत्पन्न हुए गंगा नदी के तटों पर आज भी देखे जाते हैं। जहाँ ब्राह्मणों का बहुत बढ़ा हुआ विश्वास दिखाई देता है कि–'काशी में मरण होने से मुक्ति होती है।' जहाँ पर ब्राह्मणों की यह भी प्रसिद्धि है, कि सात महास्थानों में काशी प्रधान है, क्योंकि यहाँ त्रिशूल के ऊपर शिवजी बैठे हैं। यहीं पर तुलसीदास ने 'अस्सीघाट' पर रामायण की रचना की और शरीर को छोड़ा। यहाँ पर गंगा और जमुना नदी का प्रेमप्रवाह दो सखियों के मिलन की तरह प्रवाहित होता है।

जहाँ श्री सुपार्श्वनाथ देवाधिदेव के जन्म स्थान 'भदैनी घाट' पर उन्हीं का अपूर्व चैत्यालय है। उसी के साथ स्याद्वाद महाविद्यालय है, जो कि गणेशप्रसाद वर्णी के महान् प्रयासों से निर्मित हुआ। उसमें अनेकान्त ज्योति को प्रकाशित करने वाले प्रकाश की अनेक किरणों की तरह सभी विषय पढ़ने की सामग्री सहित पुस्तकालय उपलब्ध है।

इस प्रकार भूरामल उत्कण्ठित बुद्धि से उस नगरी के तोरण द्वार पर आ गये, जो द्वार अपने वैभव से सुशोभित है। वह अपनी दृष्टि से प्रतीक्षा करते हुए इस तरह प्रसन्न थे, जैसे कि कोई पाँचवी करण लब्धि से विशुद्धि को प्राप्त जीव सम्यग्दर्शन से प्रतीक्षित हुआ प्रसन्नता को प्राप्त होता है। जैसे सम्यग्दर्शन के साथ उसी क्षण सम्यग्ज्ञान की दशा उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार वह उस विद्यालय में प्रवेश थोड़े से प्रयास से प्राप्त कर लिये। मानो अन्य जन्म में इसके लिए वह प्रयास कर चुके हों। गंगा नदी के तट पर कपड़े बेचकर वह श्रावक सम्यग्दर्शन के अनुरूप स्वावलम्बन वाली प्रवृत्ति को प्राप्त करके अपने शरीर के लिए आवश्यक साधन सामग्री प्राप्त कर लेते थे।

जहाँ प्रत्येक वस्तु को लेने के लिए बहुत धन लगता है, ऐसे परदेश में भाई का निर्वाह कैसे होगा? यह सोचकर ही बड़े भाई ने छोटे भ्राता भूरामल के लिए धन भेजा। भूरामल ने बड़े भाई को सूचना दी, कि आप मेरे विषय में चिन्ता न करें, अपितु घर के बारे में सोचें। भूरामल का लक्ष्य मात्र विद्या ग्रहण करने का था। वह प्रतिदिन गमछों की एक गड्डी बेचकर न्याय पूर्वक अपनी आजीविका के द्वारा और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन-पूजन

आदि विधि से अपने गुरुजनों के प्रति विनय से युक्त हो न्याय, व्याकरण, छन्दशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और साहित्य का प्रतिपादन करने वाले समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लिए।

कभी उन्होंने अपनी बुद्धि में विचार किया और अपने मन से कहा कि इस विद्यालय में जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए श्रमणों के द्वारा अच्छी तरह अध्ययन किये गये और संसार के भार को दूर करने वाले शास्त्र क्यों नहीं पढ़ाये जाते हैं। तब देह से भद्र प्रकृति, अति विनयवान भूरामल ने उस विद्यालय में नियुक्त वैदिक ब्राह्मण अध्यापक से कहा कि आप हमें जिनवाणी को पढ़ाकर प्रसन्न करें। अन्य समस्त (लौकिक) ज्ञान के लिए शास्त्र के समान जिनेन्द्र देव के ही शास्त्रों में ही आग्रह को देखकर अध्यापक ने क्रोध के साथ कहा कि तुम्हारे मत (जैनदर्शन) में कितने से ग्रन्थ हैं और उनमें भी कितने प्रसिद्धि प्राप्त हैं? तुम्हारे यहाँ न छन्दशास्त्र हैं, न काव्य शास्त्र हैं, न न्याय शास्त्र हैं और न शब्द शास्त्र (व्याकरण ग्रन्थ) हैं। दीर्घकाल से वैदिक श्रेष्ठ ब्राह्मणों का ही यहाँ इन विषयों में एकाधिकार चला आ रहा है।

जब भूरामल ने इन कठोर वचनों को सुना, जो कि उनके कोमल हृदय में विष-बाण के समान लगे। यद्यपि इन वचनों से उन्हें खेद उत्पन्न हुआ फिर भी ''गुरु की अविनय करना निश्चित ही शिष्यता नहीं है'' ऐसा सोचकर उन्हें कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। साथ ही ''ऐसा कौन कातर होगा, जो माँ के तिरस्कार को सहन कर ले'' इस प्रकार सोचकर श्रुतभक्ति में परायण तेजस्वी भूरामल ने उसी क्षण संकल्प लिया, कि मैं जैन शास्त्रों के माहात्म्य को प्रकट करूँगा। मैं जैन शास्त्रों के पाठ्यक्रम के विषय में लगाऊँगा और मैं जैन शास्त्रों का विस्तार करूँगा। स्याद्वाद महाविद्यालय में पण्डित वंशीधर, पण्डित गोविन्दराय, तुलसीराम आदि भूरामल के सहपाठी थे। ये तथा अन्य भी लोग उस समय उपाधि प्राप्त करने के लिए अनेक परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने में लगे थे। उन श्रेष्ठ लोगों ने भूरामल को भी प्रेरित किया कि तुम्हें अनेक परीक्षाएँ देनी चाहिए।

उपाधि के भार से सहित बुद्धिमान् लोग महान् अभिमान और धन में तत्पर रहते हैं। वही विद्या पवित्र है, जो हृदयग्राही होती है और उसकी प्राप्ति

उपासना पद्धति से की जाती है। अरे! जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धान्त में यह कहा है, कि ''वचन उद्देश्य-मूलक होते हैं'' इसलिए उद्देश्य के और युक्ति के साथ मैं यहाँ अपनी इच्छा अनुसार चलूँगा अर्थात् अपनी इच्छा के अनुरूप शास्त्र अध्ययन करूँगा। पहले जो शास्त्र पढ़ना शुरू किया है, उसके सार को पूर्ण रूप से प्राप्त करके ही उसके बाद अन्य शास्त्र को ग्रहण करूँगा, क्योंकि एक को साध लेने पर सभी की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार के विचारों की परम्परा भूरामल के मन में स्वयं उत्पन्न हुई। आत्मा में यह वैचारिकी परिणति ही उसका विधाता है। जैसे सूर्य किसी के कहे बिना स्वयं उदय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार महान् व्यक्ति भी किसी के कहे बिना करने योग्य कार्य में लग जाते हैं। बहुत कम समय में ही शास्त्री परीक्षा का फल देने वाला अध्यापन कार्य भूरामल पण्डित ने पूर्ण कर लिया और वह शास्त्री (विद्वान्) की उपाधि से अलंकृत हो गये। उस समय कोई छात्र प्रतिदिन लगभग बीस श्लोक याद कर लेता था और भूरामल सात-आठ श्लोक ही याद करते थे, फिर भी ''प्रतिभाशाली को दूसरे से ईर्ष्या कदापि नहीं करना चाहिए'' इस प्रकार सोचकर वह अपने लक्ष्य में चित्त को लगाये रखे। प्रत्येक विषय में ज्ञान की क्षयोपशमदशा भिन्न रूप से रहती है। इसी कारण से वह परीक्षा के समय गद्य विषय को पद्य शैली में लिख देते थे।

इस प्रकार भूरामल को काशीविश्वविद्यालय से शास्त्री की उपाधि प्राप्त हुई। अपने अनुरूप विचार वाले सहपाठियों के सहयोग से उस समय जो जैन-ग्रन्थ प्रकाशित थे, उन्हें पं० भूरामल ने काशी विश्वविद्यालय में तथा कलकत्ता से होने वाली परीक्षा के पाठ्यक्रम में जोड़ दिया।

यद्यपि अध्यापक उस समय सहज रूप से जिनेन्द्रदेव प्रणीत शास्त्रों को नहीं पढ़ाते थे, फिर भी वह सदा जिनप्रणीत शास्त्र ही पढ़ते थे। पं० उमरावसिंहजी भूरामल के अनन्य सहयोगी थे। वह अध्यापक पद पर नियुक्त थे और अपने पुण्य के नियोग से पुण्यशाली विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। भूरामल धनार्जन के लिए व्यर्थ में अपने समयरूपी धन को गँवाते है, ऐसा विचार करके कभी उन्होंने भूरामल को कहा-भो! आप जैसे बुद्धिमान्

पुरुष को धन के लिए, किसलिए कष्ट उठाना जबकि विद्यालय में छात्रवृत्ति की सुविधा है। भूरामल ने अपने मन में विचार करके कहा–आपकी मुझमें जो कृपाभावना है, वह मेरे मन को छूती है, फिर भी धन अर्जन से अपने लिए व्यय करने के बाद जो बचता है, वह मैं माँ के लिए भेज देता हूँ। इस प्रकार दोनों कार्य सध जाते हैं। यह सुनकर भूरामल की स्वावलम्बन की वृत्ति की और मातृ-भक्ति की गुरु उमराव जी ने अपने मन में प्रशंसा की। जब उमरावसिंह ने सात प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये, तब समाज के लोगों ने उनको ब्र० ज्ञानानन्द के नाम से बुलाया। कृतज्ञता गुण से निर्मल मन वाले भूरामल ने कभी भी अपने शिक्षागुरु का पवित्र नाम नहीं भुलाया। इस प्रकार लगभग दश वर्ष तक पण्डितों की नगरी वाराणसी में अपने लक्ष्य को प्राप्त करके पं० भूरामल जी ने वहाँ से प्रस्थान किया।

तपे हुए स्वर्ण की कान्ति के समान पीत वर्ण देह, मनोहर, विद्या के ग्रहण से पृथ्वी के आभूषण तथा संस्कार युक्त होने से दोषरहित 'भूरामल' अपने इष्ट वैभव (ज्ञान) को प्राप्त करके आनन्दित थे।

बाण कवि के समान जिनका विद्यार्जन करने का प्रण पूर्ण हो गया है, सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र की भाव रूपी लहरों से पार गये वह पं० भूरामल आकाश के समान निर्लेप हो, माँ के प्रेम की स्मृति आने से घर वापस आने के लिए उद्यत हुए। सूर्य की किरणों के समान इस कवि का प्रकाश धरती पर दूसरों के लिए था और अध्यात्म (अपने) में साम्य को धारण करते थे। साहित्य, नय, प्रमाण, शब्दानुशास्त्र और अन्य काव्य सार को पढ़े हुए तथा गुणों से देह वैभव की सहितता को देखकर नवयौवन रूपी लक्ष्मी ने उन पर साम्राज्य प्राप्त कर लिया था। ललाट पर खिंची रेखाओं के छल से बुद्धिरूपी लक्ष्मी ने उनकी देह पर अपना अधिकार करके शोभा प्राप्त की थी। रोम समूह की पंक्ति के छल से मानो यौवनरूपी लक्ष्मी ने उनके शरीर में प्रवेश कर लिया था। मंगल कार्य करने वाली सरस्वती पं० भूरामल के प्रकृष्ट गुणों की अभिलाषिणी हो गयी थी। उस सरस्वती ने उनके ओठ के नीचे तिल का निशान बनाकर अपना स्थान बना लिया था और वह सरस्वती शीघ्रगामी होने पर भी उनके कण्ठ में नहीं गयी थी अर्थात् वह देवी उनके ओठों पर

सदा विराजमान रहती थी। चूँकि सरस्वती ने अपने श्रेष्ठ लक्षणों से पं० भूरामल को ग्रहण कर लिया था। लक्ष्मी उनमें रति भाव को धारण करती थी, फिर भी उसने उनका वरण नहीं किया था। वह लक्ष्मी उन्हें अपनी आँखों से दूर से ही देखती थी, क्योंकि स्त्रियों में ईर्ष्या का भाव सहज ही होता है। पति के वियोग और पुत्र के विरह से अपनी वियोगिनी माँ को जो कि असमय में ही बुढ़ापे से ग्रसित हुई दिख रही थी ऐसी माँ की चरण-वेदिका को अश्रुपूरित नेत्रों के जल से भूरामल ने प्रक्षालित किया था। उस समय पं० भूरामल जी कसौटी पर कसे हुए सफेद स्वर्ण की आभा के समान भाई और माँ के प्रति प्रेम का उल्लास प्रकट किये थे। सघन मेघों की घटाओं को देखती हुई, मयूरी के समान माँ हर्ष के अतिरेक से खिले हुए नयन कमलों से, बहुत देर तक अपने पुत्र को देखती रही। अपने छोटे भाइयों की बड़ी उम्र देखकर भूरामल उन्हें सहजता से नहीं पहचान सके। कुछ ही दिनों बाद बड़ा भाई भी दूसरे राज्य में व्यापार करने से मन हटा लिए और अपने बन्धु जनों के साथ कृषि व्यापार आदि कार्य करते हुए रहने लगे। बहुत वर्षों बाद अब घर में सुख शान्ति और हर्ष का समागम हुआ है, ऐसा माँ ने अनुभव किया। जैसे जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन और जिनवाणी के ज्ञान के जल कणों से सिंचन के द्वारा अपने चित्त में अलौकिक आनन्द की अनुभूति उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार करुण हृदय व्यक्ति दूसरों में ऐसा ही आनन्द हो ऐसी इच्छा करता है। इसलिए पं० भूरामल ने विचार किया—धन, ज्ञान, जल और साधु प्रवाह से ही शुद्ध होते हैं, अन्यथा धन आदि नीहार रहित भोजन की तरह कष्टकारी होते हैं। व्यामोहरूपी रोग से जो रुग्ण हैं, उन्हें धन का सेवन औषधि की तरह करना चाहिए। जिनका लक्ष्य मात्र धनार्जन होता है, वे उस अनादिकालीन रोग को बढ़ाने वाले हैं। न मुझे विषयों में अभिलाषा है और न मुझे धन में वाञ्छा है। अब मैं शाश्वत सुख की इच्छा करता हूँ। इन क्षणभंगुर सुखों को धिक्कार है। अधम (नीच) पुरुष कामवासना की इच्छा करते हैं, मध्यम पुरुष धन की इच्छा करते हैं और श्रेष्ठ पुरुष ज्ञान की इच्छा करते हैं। वास्तव में ज्ञान ही महान् व्यक्तियों का धन होता है।

विद्वानों ने बालक की पहली शिक्षा-शाला माँ को कहा है, बाद में उत्कृष्ट संस्कार की भूमिका हित करने वाली पाठशाला है। इस प्रकार विचार करके पं॰ भूरामल ने पाठशालाओं में पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार देखकर अन्य लोगों ने भी उनसे शिक्षण प्रदान करने के लिए निवेदन किया।

इस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव में भी शिक्षा का प्रभाव बढ़ने लगा। सर्वत्र चर्चा होने लगी कि अहो! भूरामल बहुत बुद्धिमान् हैं, अहो! भूरामल निःस्वार्थ रूप से सब लोगों के हित में प्रवृत्ति करते हैं। अहो! युवा होते हुए भी वह घमण्ड रहित हैं। अहो! बुद्धिमान् होकर भी विनयवान हैं। अहो! बलिष्ठ होकर भी दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। अहो! रूपवान होकर भी काम वासना से रहित हैं।

समीपवर्ती रैवासा नाम के गाँव में पं॰ भूरामल की प्रेरणा से ''दिगम्बर जैन छाबड़ा संस्कृत महाविद्यालय'' की स्थापना हुई। इसी प्रकार दाँता गाँव में भी शिक्षण विधि से छात्रों का उपकार किया। और बचे हुए समय में लेखन कार्य को करके जिनवाणी का संवर्धन करते थे।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुजीवनदर्शन संज्ञक छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

सातवाँ सर्ग

गुरु गरिमा आख्यान

अब गाँव-गाँव से सम्बन्धिजनों के द्वारा पं० भूरामल के विवाह का प्रस्ताव आने लगा। जिस कारण एक बार माँ ने भूरामल से कहा-तुम्हारे मन में इस विषय में क्या है? प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध नैसर्गिक है। अनन्त इच्छाओं को रोकने के लिए समाज की यह व्यवस्था हाथी को खूँटे पर बांधने की तरह प्रामाणिक है। बहुत थके हुए पुरुष की यह विश्राम स्थली मानो दूसरी ही प्रकृति है। तुम मौन क्यों हो? आपके विवाह के बिना छोटे भाइयों को भी विलम्ब होगा। तुम्हें जिसके साथ भी सम्बन्ध की इच्छा हो, निःसंकोच होकर कहो। बड़ा भाई तो लज्जा के कारण इस विषय में कोई बात नहीं करेगा। मुझे ही सभी लोग पूछते हैं, जिससे उन्हें क्या उत्तर दूँ? यह सुनकर भूरामल ने कहा-प्रकृति, स्वभाव और शील ये सभी शब्द समान अर्थ में रहते हैं। आत्मा की प्रकृति अर्थात् स्वभाव तो ज्ञान है और ज्ञान राग का विरोधी है।

मुझे तो यह स्त्री राग अग्नि के पिण्ड की तरह दिखाई देती है, जिस अग्नि में गिर जाने वाले पुरुष के ज्ञान और शील भस्म हो जाते हैं। मनुष्यों की काम से काम की वृद्धि खूब होती है। कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता है, कि खूब ईंधन से अग्नि को सन्तुष्टि हो जाती हो। शान्त लहरों से जो गम्भीर हैं, ऐसे अनेकान्तरूपी महासागर में डुबकी लगाने से ही इस प्राणी को जन्म और मृत्यु के दावानल से शान्ति मिल सकती है। चिरकाल तक भोगों को भोगकर भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अब वर्तमान में तुच्छ भोगों से इस अल्प आयु में क्या शान्ति हो सकती है।

पहले दीर्घकाल तक चक्रवर्ती और नारायणों के द्वारा इच्छानुसार भोगों का सेवन किया गया है, किन्तु वे भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं। इस भव में मैं सरस्वती की अच्छी तरह सेवा करूँगा, ऐसी मेरी भावना है। उसी में मन की आसक्ति मानसिक मोह का नाश करती है। भगवान् महावीर का यह तीर्थ कलुषता रहित और शुद्धि को देने वाला है, अन्य तीर्थों में वरिष्ठ

है। इसलिए मैं इसी में स्नान करूँगा और इसी का श्रद्धान करूँगा। यह तीर्थ इतना सुलभ है, फिर भी संसारी लोग इसे नहीं जानते हैं और कितने ही मूढ़ मन वाले लोग इसे जानते हुए भी इसका सेवन नहीं करते हैं। जब तक धर्म को धारण नहीं किया जाता है, तब तक उसका विश्वास नहीं होता है। ठीक ही है, जब निषध पर्वत पर सूर्य का उदय होता है, तभी अन्धकार का नाश होता है।

यह सुनकर थोड़ी देर चुप रहकर दीर्घ गरम श्वास छोड़ती हुई, भीतर से गीली आँखों वाली बीच-बीच में कण्ट के अवरोध के साथ बड़ा साहस जुटाकर माँ ने कहा–तुम्हारी उम्र मध्यम है और तुम्हारा शरीर कोमल है। ऐसा करना अभी तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। बुद्धिमान् लोग गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके जीवन के अन्त में तपोवन का आश्रय लेते हैं। जो अक्रम से पथ पर चलता है, उसे अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। भरत, सगर, राम आदि महापुरुष भी तीनों पुरुषार्थ करके दीक्षित हुए थे। इस दुखमा काल में भाव-आवेश से कुछ भी नहीं करना चाहिए। वही कार्य करना चाहिए, जिससे स्व-पर का चित्त निराकुल रहे। ब्रह्मचर्य से जीवन-यापन करना बहुत कठिन है। क्या तुमने नहीं सुना है, कि विश्वामित्र जैसे महान साहसी लोग भी दीर्घकाल तक तपस्या करके इस मार्ग से विचलित हो जाते हैं और सम्पूर्ण शास्त्रों के मन्थन रस से आनन्दित होने वाले माघनन्दि कुम्हार की पुत्री में कैसे बन्दी हो गये। माँ के इन वचनों का विचार करके भूरामल का आत्मबल और दृढ़ हो गया। तब भूरामल ने कहा–अतीत काल में अनेक विपरीततायें इस अपार संसार में मार्ग पर चलने वालों में हुई हैं। विपरीतता भी कहीं हुई है और कहीं पर समीचीनता भी रही है, यह तो दिन-रात के चक्र के समान हमेशा चलता रहता है। फिर भी इन सभी चरित्रों में उचित आचरण की भावना करने वालों को निश्चित ही सकारात्मक चरित्रता के बारे में ही चिन्तन करना चाहिए। यह तो प्रत्येक तीर्थ में देखा जाता है, कि कुछ लोग मुक्त होते हैं, तो कुछ भ्रष्ट हो जाते हैं। फिर भी महान् व्यक्तियों की प्रतिष्ठा गुणों में निष्ठा (रुचि) होने से ही होती है।

जो जीवन के अन्त में धर्म का आश्रय लेते हैं, वे केवल कष्ट का भार ही धारण करते हैं। ऐसे लोग बुढ़ापे में स्वयं परेशान होते हैं तथा दूसरों को भी परेशान करते हैं। वे बुढ़ापे में श्रुत तथा तप कुछ भी नहीं कर पाते हैं। जो राम आदि सम्यग्दृष्टि पुरुष थे, वे शरीर की अपेक्षा उत्कृष्ट शक्ति को धारण करते थे। इसलिए उनका यहाँ दृष्टान्त उदाहरणाभास है, इन उदाहरणों से अभी कुछ समर्थन नहीं होता है। इस संसार सागर में अत्यधिक विषयों का इच्छानुसार भोग करके, फिर मुक्ति सुख की कामना करने वाले, उन भोगों को छोड़कर सदा प्रयत्न करते हैं, वे ही 'पुरुषार्थ' इस संज्ञा को प्राप्त करते हैं। केवल भोग भोगने का नाम पुरुषार्थ नहीं है और न केवल धनार्जन करना ही पुरुषार्थ है, किन्तु दोनों का सेवन करके फिर अन्त में उनको छोड़कर वन में निवास करना पुरुषार्थ है इसलिए जो अन्त में करना है, उसे आज ही क्यों न ग्रहण किया जाए? कल सूर्य को देखूँगा अथवा नहीं यह कौन जानता है। इसलिए माँ! मैं पर स्त्री को ग्रहण नहीं करूँगा यह निश्चित है। जीवनपर्यन्त जिनभारती के विलास से ही अपनी आत्मा की उपासना करूँगा, इस प्रकार संकल्प लिया। पुत्र की दृढ़ता माँ शिथिल करने में समर्थ न हो सकी। तब माँ ने कहा–जब तक मेरा मरण नहीं हो, तब तक घर नहीं त्यागना। माँ के वचनों को मातृ-भक्ति से हृदय में धारण करके वह सदा माँ की सेवा में तत्पर हुए। पं० भूरामल व्यापार में बड़े भाई के सहयोगी होकर माँ का आदर करने के साथ पाठशाला में उचित काल व्यतीत करके लेखन कार्य में अपना समय व्यतीत करते थे। वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि काव्यों की रचना करके जयोदय महाकाव्य की रचना की। तभी सभी राज्यों में परिभ्रमण करके दक्षिण देश से महाप्रभावक १९वीं शताब्दी के प्रथम आचार्य, चारित्र परायण, धर्मामृत के वचनों से, संघ सहित विहार करने से, अनेक प्रकार के तपों के तपने से, समस्त नर-नारी पशुजनों को महान् आनन्द उत्पन्न करते हुए साक्षात् शान्ति के सागर, पञ्चाचार के आधार श्री शान्तिसागर आचार्य ने १९३३ ई० का वर्षायोग ब्यावर नगर में स्थापित किया। उसी समय दूसरे भी आचार्य शान्तिसागर महाराज जो कि 'छाणी' इस उपनाम से पहचाने जाते थे, वह भी उसी विशाल पूज्य

जिनमन्दिर में वर्षायोग के लिए आ ठहरे। दो आचार्यों का यह संयोग बहुत ही अद्‌भुत था। दो सूर्यों का एक स्थान पर संयोग होने पर, जो प्रकाश होता है, उसी तरह वहाँ ज्ञान प्रकाश फैला था। जब दो समुद्रों का मेल हो, तो जैसे क्षोभ होता है, वैसा ही जनसैलाव में उन दो आचार्यों के मेल से हुआ। दो महान् पर्वतों का एक दृष्टि से दर्शन करने की तरह उन आचार्यों का एक साथ दर्शन अपूर्व शोभावान था। दो बादलों के जल की वर्षा की तरह एक साथ अमृत वचनों की वर्षा होती थी। बृहस्पति और शनि ग्रह का मीन राशि में मेल होने की तरह, बैथलहम का तारे की तरह यह संयोग हुआ था। इस प्रकार हृदय में भावना करके दर्शन की उत्कण्ठा से पं० भूरामल उन दोनों आचार्य देव के समक्ष शीघ्र उपस्थित हुए, जिनकी देह के परमाणु भव्य जीवों की कलुषित मनोदशा को प्रक्षालित करने में समर्थ हैं। तब उन्होंने अपने मन में स्तुति की–जो अमृत वचनरूपी किरणों के समुदाय को देने वाले सूर्य के समान हैं अथवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान हैं। इसलिए पं० भूरामलजी विभ्रम को प्राप्त हुए, फिर भी विचार किया कि सम्यग्दृष्टि होने से यह आचार्य भ्रम का नाश करने वाले और पाप से रहित हैं।

रत्नत्रय के द्वारा कामरूपी बाणों को जीतकर, जो दुष्ट काम का नाश करने वाले हैं, जो मन-वचन-काय तीन प्रकार का सत्त्व (बल) धारण किये हैं, जिन्होंने दोनों नय से अन्य मतों का मर्दन किया है, जो तीन लोक को जीतने वाले काम को भी जीतने वाले हैं और यशस्वी हैं। स्त्रियों में और धन में इच्छा को नाश करने की शक्ति बड़े-बड़े शक्तिशालियों में नहीं है। मुक्ति पथ के बीच में दो पर्वतों की तरह इन दोनों ही प्रकार की इच्छा का उल्लंघन करके आप मुक्ति-पथ के द्वार पर आ गये, आप धन्य हैं।

पञ्चाचार के महापथिक, जगत् के सूर्य, प्रकाशपुंज, अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में लीन मार्ग को दिखाने वाले यह प्रवीण पुरुष खूब सुशोभित रहे हैं। अपने मुख की आभा से जिन्होंने चन्द्रमा की शोभा को और अपने संघ के समूह के द्वारा नक्षत्रों की शोभा को दूर फेंककर अपनी आत्मा की अतुलनीय शोभा से यह अद्वितीय शोभा को धारण कर रहे हैं।

एक तरफ जो पंचेन्द्रियों के विषयों की विषम ज्वाला और एक ओर

यह शान्ति का झरना, एक तरफ तो यह काम का विलास फैल रहा है और एक ओर यह इन्द्रियों को दमन करने की बुद्धि, एक तरफ तो धन वैभव को प्राप्त करने के लिए इतना परिश्रम और एक ओर मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रम। ठीक ही है, संसारी जीवों की चित्तवृत्ति विचित्र होती है। चूँकि इस प्रकार मेरी आयु संयम रहित और निश्चय अध्यात्म से रहित निष्फल ही निकल गयी। देव और विशिष्ट बुद्धिमानों से मान्य जो महामूल्यवान चारित्र है, उसको मैंने ज्ञान मात्र में लीन होते हुए क्यों नहीं धारण किया?

इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुआ सुख कुटिल और कटुक सुख को देने वाला है। ऐसे इन्द्रिय सुख को जन्म और मरण का मुख्य कारण तथा दुख देने वाला मानते हुए यम, दम, शम और शील में अपने चित्त को लगाते हुए मेरी आँखों के समक्ष, यह आचार्य देव विराजे हैं।

समुद्र, धरती, रत्न, साधु और अमृत इस पृथ्वी और आकाश में जब तक शोभायमान हैं, तब तक आपका ज्ञानरूपी चन्द्रमा जयवन्त रहे, जयवन्त रहे और आपका शुद्ध-यश बढ़ता रहे, बढ़ता रहे। शरद ऋतु में अगस्त्य नक्षत्र के योग में स्वयं ही काली दिशाएँ स्फटिक-मार्ग की आभा के समान जल रहित निर्मल हो जाती है; उसी प्रकार मलिन बुद्धि वाले पूज्य पुरुषों के योग से निर्मल बुद्धि वाले हो जाते हैं। उदार बुद्धि वाले पुरुष के चरणों में शत्रु-मित्र आ गिरते हैं तथा मुकुल, आम्र, मुकुन्द और कदम्बक वृक्ष के फल जड़ होकर भी बिना स्त्री के भी विकसित होते हैं। तप के द्वारा जिन्होंने सूर्य की किरणों और आतप को जीत लिया है तथा समतामय मन के द्वारा चन्द्रमा के मुख को भी अस्त कर दिया है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा का युगल ही रह रहा है। जिसे पहले सुना था, उसे आज अपने सामने देख रहा हूँ।

जिनके चरण कमल सूर्य और चन्द्रमा को भी पराभूत कर रहे हैं। ऐसे समग्र तप को धारण करने वाले तेजस्वी मध्यम परमेष्ठी श्री शान्तिसागर आचार्यों के चरणों में, पुण्य-भाव से सुगन्धित शुद्ध हृदय के साथ मुकुलित हस्त-कमल को अपने ललाट पर रखने से जिनका शरीर शोभित हो रहा है ऐसे नमस्कार किया। पं० भूरामल जी ने पृथ्वी पर अपनी देह और जंघा का भार रखकर नमस्कार किया।

जो संसार सागर से तरने के लिए कोई अपूर्व पुल के बन्ध के समान प्रतीत होते हैं, अनादि काल से उत्पन्न हुए व्यामोह से बढ़ी हुई तृष्णारूपी लता को नष्ट करने के लिए, जो तीक्ष्ण फरसे की चोट के समान है, चौरासी लाख योनि के दुखों में गिरने के द्वार को बंद करने के लिए विशाल अर्गला बंध के समान हैं। पवित्र चरित्र का आधारभूत जो श्रमणचर्या है, उसका उद्धार करने के लिए महान् साहसिक हैं। काम, क्रोध, बुराई, कलुषता, कषाय, कलह, मात्सर्य, निन्दा और कपट की तरंगों को धारण करने वाले समुद्र को सुखाने के लिए कुपित हुए बड़वानल की तरह हैं। अति चिक्कण, अप्रकट राग की किसलय को जन्म देने वाले जड़ का नाश करने के लिए जो तीव्र तुषार प्रतीत होते हैं। जिनका दर्शन अमृतभोजी देवों के समूह के लिए तृप्ति के लिए है। जिनको चर्या-विधि का ज्ञान ही कुपथ के मार्ग पर प्रेरणा देने वाले अनेक दार्शनिकों के कुतर्कों को निर्मूल नाश करने के लिए है। जिनका स्मरण ही विक्षिप्त चित्तवृत्ति वाली को एकाग्रचित्त कर देता है। जिनका नाम लौकिक मार्ग पर होने वाले विघ्न समूह की शांति के लिए है। उसी प्रकार द्वितीय आचार्य श्री शान्तिसागर छाणी के चरणों में नमस्कार करके तथा सभा में स्थित मुनि संघ में यथायोग्य नमस्कार आदर करके वह कुशल पुरुष अपने स्थान पर बैठ गये। जिसे पहले नहीं देखा, जो देह की चेष्टा से उत्तम वंश में जन्म की सूचना दे रहा है, जो अपनी विनम्रता से तपस्वियों को भी आकर्षित कर रहा है, ऐसा यह पुरुष कौन है?

ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता होते हुए भी, वह उसका उपयोग यदा-कदा ही करते थे। विशेष आग्रह से श्री दिगम्बर जैन मन्दिर मोदीनगर की प्रतिष्ठा का मुहूर्त प्रेमचंद श्रावक को बताया।

संकेत प्राप्त करके पं० भूरामल जी ने स्वयं लिखे शास्त्र 'जयोदय महाकाव्य' को आचार्य श्रेष्ठ के कर कमलों में प्रदान किया। ग्रन्थ के पाण्डित्य को देखकर वह सभी मुनि/आचार्यों से बहुत प्रशंसित हुए। सभा के लोग भी आचार्य परमेष्ठी के मुख से पण्डित ब्रह्मचारी की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए हैं और कितने ही आश्चर्यचकित हुए।

एक बार पं० भूरामल द्वारा रचित शास्त्रों के यश की चर्चा सादूमल

निवासी पं० हीरालाल ने सुनी। उन शास्त्रों को जब उन्होंने देखा तब उनका मन प्रसन्नता से भर गया। सत्य ही है–''**विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को जानता है।**'' अनेक काव्यों की रचना की है, फिर भी प्रकाशन और प्रचार के लिए कोई प्रयास नहीं दिखता है। यह सोचकर पं० भूरामल के प्रति पं० हीरालाल के मन में सहानुभूति उत्पन्न हुई। तब पं० हीरालाल जी ने अपने परिश्रम से ग्रन्थों का प्रकाशन किया। उन्होंने पं० भूरामल जी को यह प्रेरणा भी दी, कि आपको इन ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीका भी करना चाहिए अन्यथा पाठकों को ग्रन्थ के पठन-पाठन में क्लेश उत्पन्न होगा और अरुचि भी होगी। उनकी प्रेरणा के कारण पं० भूरामल ने वीरोदय की स्वोपज्ञ टीका रची। अत्यन्त मितव्ययी और अनर्थदण्ड से भयभीत पं० भूरामल पत्र के ऊपर, कागज के टुकड़ों के ऊपर ही लिखकर विराम ले लेते थे। जिनालय में ही स्वयं लिखित ग्रन्थों को स्थापित करके अन्यत्र चले जाते। वह निःस्पृह होकर फिर उसकी चिन्ता नहीं करते थे।

मुनि के समान वर्णी (त्यागी), दयामूर्ति पं० भूरामल दयाधर्म का उपदेश देते हुए वर्षायोग में हमेशा एक स्थान पर रहते थे। यह धर्म पवित्र है और धारण करने वाले को भी पवित्र करता है। धर्म धारण करने वाले का यह दायित्व होता है, कि इसकी पवित्रता का नाश न होने पाए। पहले अपनी आत्मा की भावना अच्छी तरह भानी चाहिए, बाद में प्रभावना की भावना करनी चाहिए। जो सदा व्याकुल मन वाला स्वयं है, वह दूसरे को निराकुल कैसे कर सकता है। सज्जनों का मन, जल के समान बहते रहने से ही शुद्ध होता है, ऐसा मानकर पं० भूरामल यथाशक्ति विहार करने में अपनी बुद्धि को करते थे।

जैसे सूर्य बिना किसी की अपेक्षा के उदित होकर जगत् का उपकार करता है, उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान से प्राणियों का उपकार करना चाहिए। उपदेश देने से ही धर्म का तीर्थ प्रवर्तन होता है। देशना के बिना भगवान् महावीर के केवलज्ञान से भी क्या हो? इस प्रकार पण्डितजी हिसार, दिल्ली आदि स्थानों में भी निःपरिग्रही होकर विहार करते हुए, धर्मामृत की वर्षा से सभी भव्य जीवों के मन के मिथ्यात्व और कषायों को साफ करते हुए,

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रदान करके विहार करते थे। कितने ही लोगों ने श्रावकों के व्रत प्रतिमाओं को ग्रहण किया। कई आचार्य संघों में अध्यापन भी कराया। आर्यिका सुपार्श्वमति आदि ने भी विद्या अध्ययन का लाभ लिया।

एक बार आचार्य चन्द्रसागरजी के संघ में कोई महिला व्रतों को ग्रहण करके घर गयी। जब परिवार के लोगों को उस महिला के व्रत के विषय में जानकारी हुई, तब सभी लोग असन्तुष्ट हुए। प्रति समय प्रत्येक कार्य की उलाहना से वह दु:खित हो गई। जिस कारण से संघ के बीच में वह आकर कहने लगी, कि मैं व्रत परिपालन के लिए समर्थ नहीं हूँ। सभी लोग मुझे प्रताड़ित करते हैं। मेरा कोई पुत्र नहीं है, इसलिए पहले से ही घर के लोग मुझसे असन्तुष्ट हैं, ऐसी स्थिति में जिनदर्शन करने का व्रत पालन मैं कैसे करूँ? आप मुझे क्षमा करें इस प्रकार खेद-खिन्न मुख लिए हुए रोने लगी। तब संघ के सदस्य एक दूसरे का मुख देखकर धीरे-धीरे बातचीत करने लगे। पं० भूरामलजी ने परिस्थिति की गंभीरता को देखकर कहा- आपने अपने कर्म के विपाक से गृहस्थ सम्बन्धी दायित्वों का बाल्यावस्था से लेकर आज तक अच्छी तरह निर्वाह किया है। सुख और दुख अपने-अपने कर्म के उदय से होते रहते हैं। फिर व्यक्ति को हर्ष अथवा विषाद किसी भी तरह नहीं करना चाहिए। इस लोक में किसी की भी दशा एक जैसी नहीं रहती है, जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता रहता है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा पाप का नाश करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा श्रेष्ठ पुण्य का समूह उत्पन्न करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा मद का नाश करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा सुख और शान्ति करने वाली है। हित की इच्छा करने वालों को धर्म छिपकर भी कर लेना चाहिए। धर्म के बिना सुख की इच्छा खारे जल से प्यास को दूर करने के समान है। इसलिए सुख की इच्छा से दर्शन और पूजन हमेशा करना चाहिए। जैनियों का यह प्रथम कर्तव्य है, इसे कोई व्रत नहीं माना जाता है।

वह स्त्री श्वास लेते हुए बड़ी कठिनता से पुनः कहने लगी-आपके वचन तो धार्मिक हैं और तात्त्विक हैं। मेरा जीवन तो पारिवारिक क्लेश के

कारण दूसरा ही है। पुत्र के बिना स्त्री की स्थिति क्या होती है? यह आप जान नहीं सकते। पति शिक्षित भी हो, परिवार के लोग सभ्य भी हों और समाज के लोग धार्मिक भी हों तो भी पुत्र रहित स्त्री को हीन और अपमान की दृष्टि से ही देखते हैं। ऐसे लोगों को धर्म तो अनावश्यक भार लगता है। नियम पूर्वक जिनालय जाकर पूजा करना तो असम्भव ही है। तब दया से द्रवित हृदय वाले त्यागी जी ने पुनः कहा–व्यर्थ में चिन्ता मत करो। आप घर में रहकर ही भावों से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की भावना करो। मैं रोज आपके घर में जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक को भेज दूँगा। उस अभिषेक को अपने मस्तक पर अर्पण और वन्दन नियम से शुद्ध भावों से करना। यह सुनकर हर्ष अश्रुओं को पोछते हुए और उनके उपकार को मन में भाते हुए, वन्दना करके चली गयी।

प्रतिदिन जिनालय में पं० भूरामलजी स्वयं शान्तिनाथ भगवान् का शुभ अभिषेक करके उस महिला के घर पर भेज देते थे, जिससे थोड़े ही दिनों में उसने अपने पाप का नाश कर लिया। कुछ ही दिनों बाद गर्भ से सुख का कारण भूत एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिससे घर के लोगों ने अच्छा आनन्द देने वाले मोदकों का अपने परिवार के लोगों में वितरण किया।

इस प्रकार अनेक संघों के दर्शन करके, स्वाध्याय करके, वह फुलेरा गाँव में पहुँचे। वहाँ पर आचार्य श्री वीरसागरजी विराजमान थे। उनको प्रणाम करके दर्शन से अभिभूत होते हुए उन्होंने आचार्य संघ में वह स्थान प्राप्त किया, जो माला में मणियों का होता है। वह संघ में सिद्धान्त, व्याकरण, न्याय शास्त्रों के अध्यापन कार्य में संलग्न रहते। वह पंथवाद के विष को आगम की युक्तिरूपी मन्त्र से निराकरण में मग्न थे। इस तरह संघ के साथ नागौर ग्राम में उन्होंने वर्षायोग किया। उसके बाद चातुर्मास के दौरान सुजानगढ़ में रहकर वहाँ नेत्र रोग की शल्यचिकित्सा हुई। ध्यान–स्वाध्याय में समय व्यतीत करके फिर वहाँ से भी ससंघ विहार हुआ। जब आचार्यदेव श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करने के लिए तैयार हुए तब पं० भूरामलजी ने विनय सहित प्रार्थना की–भगवन्! मैं यही पर रुकना चाहता हूँ। आचार्यश्रेष्ठ ने उन्हें आज्ञा दी ''आप अपनी अनुकूलता से प्रवर्तन

करें।''

१९५५ ई० में मंसूरपुर में वर्षायोग चल रहा था। इससे पहले भी दो बार यहीं पर वर्षायोग पं० भूरामलजी ने किया था। तीसरे वर्षायोग के समय उस नगर में वर्षा नहीं हुई थी। जिससे यह लोगों के बीच चिन्ता का विषय था। जिसका मन भगवान् शान्तिनाथ की भक्ति से भरा है, ऐसे पं० जी ने सोलह दिवसीय शान्तिनाथ विधान करने के लिए समाज के लोगों को प्रेरणा दी। उस विधान के प्रभाव से वर्षा हुई। इससे जैनों और अजैनों को समीचीन धर्म के प्रति अति श्रद्धा उत्पन्न हुई। पं० जी ने स्वयं ही जिनेन्द्र भगवान् के समीप वैशाखमास की अक्षय तृतीय को मन्सूरपुर में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। 'क्षुल्लक श्री ज्ञानभूषण महाराज' इस नाम से सभी को परिचय हुआ।

१९५७ ई० में राजस्थान प्रान्त के जयपुर खानिया जी में आचार्य देशभूषणजी महाराज के समीप वह स्थित थे। एक दिन आचार्य महाराज ने कहा भो ज्ञानभूषण! दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। विद्वान् श्री ज्ञानभूषण जी नयन झुकाकर मुस्कारते रहे और कुछ नहीं कहा। आहारचर्या के बाद जब वह आचार्य महाराज के पास बैठे थे, तभी विनोदभाव से आचार्य देशभूषणजी ने प्रसन्नता के साथ क्षुल्लक जी के कंधे पर पड़े दुपट्टे को खींच दिया। क्षुल्लकजी भी गुरु चरणों को स्पर्श करके कायोत्सर्ग के साथ संकल्पित हो गए। इस प्रकार ऐलक ज्ञानभूषण महाराज की जय हो जय हो ध्वनि से आकाश गूँजा।

श्री सम्मेदशिखर यात्रा से वापस आकर आचार्य श्री वीरसागर महाराज संघ सहित निवाई, टोडराय सिंह, खानिया आदि स्थानों पर वर्षायोग स्थापित किये। जयपुर खानिया जी में जब आचार्य श्री वीरसागरजी का चातुर्मास चल रहा था, तभी उनका स्वास्थ्य गिर गया। जब कभी वह असातावेदनीय कर्म की उदीरणा के कारण मिर्गी रोग से पीड़ित हो जाते थे। उस रोग की मूर्च्छा में चले जाने पर भी पूर्वाभ्यास के बल से नमस्कार मन्त्र पढ़ने की सूचक उनकी अंगुली चलती रहती थी। ऐसे कुशल आचार्य अश्विनी कृष्णा अमावस्या को २०१४ विक्रम संवत्सर में प्रात: १०: ५० मिनट पर

चिरसमाधि में विलीन हो गये।

उसी समय श्री शिवसागर संघ सहित ऊर्जयन्त पर्वत की वन्दना करके राजस्थान प्रान्त के ब्यावर गाँव में वर्षायोग की स्थापना करके वहीं पर रुके थे। समाधि के समाचार को जानकर वर्षायोग निष्ठापन के बाद खानिया चूलगिरी में आचार्य श्री वीरसागरजी की चरण प्रतिष्ठा समारोह में संघ सहित मुनि शिवसागरजी महाराज ने भाग लिया। ऐलक ज्ञानभूषण महाराज भी यह समाचार सुनकर इस समारोह में आ गये। इसी प्रकार पर मन में अनित्य भावना भाकर उनका मन वैराग्य से भर गया और उन्होंने प्रार्थना की भगवन्! समय की भयंकरता को कोई भी नहीं जानता है, इसलिए जिनदीक्षा प्रदान करके मुझे अनुगृहीत करें। यह निवेदन सर्वत्र पक्षी की उड़ान की तरह फैल गया और चर्चा का विषय बन गया।

जो सम्यग्ज्ञान के आधार हैं, जो समस्त शास्त्रों में प्रवीण होते हुए भी तथा जिनेन्द्र भगवान् के वचन समूह को धारण करके भी, उपाध्याय का कार्य करते हुए भी, यश के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करके भी वह ज्ञानभूषण अरे! दीक्षा विधि में मन क्यों बना लिया? जो कोमल अंगों वाले शरीर को धारण करके भी, अत्यन्त सुन्दर होकर भी, सारस्वत होकर भी और विद्वानों में श्रेष्ठ बुद्धि की धुरा को धारण करके भी, नग्नता के साथ, केशरूपी सर्पों के लुंचन के साथ मोक्षरूपी सर्प मणि प्राप्त करना बहुत कठिन है, उसे यह कैसे प्राप्त करेंगे। जो बाल्यावस्था से अपनी दृढ़ मानसिकता के बल से विद्यालय में अच्छी तरह पढ़े हैं और अपने पुरुषार्थ से बाद में जिन्होंने नियम-संयम ग्रहण किया है, जिन्होंने मदन पर अंकुश लगाया है, निश्चित ही वह किसी अन्य दशा को यहाँ प्राप्त हुए हैं।

कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह इनके पुण्य का फल है, कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह बुद्धिमानों का कार्य है, कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह आसन्न-भव्य आत्मा का लक्षण है और कितने ही लोग कह रहे हैं, कि बहुत जन्मों में जिसने अच्छा कार्य किया है, उसका संस्कार है।

इस प्रकार विचार करके सभी नगरवासियों ने दीक्षा महोत्सव की विधि आनन्द के साथ सम्पन्न की। उस समय उस नगर की शोभा हर्ष के

अतिरेक और जय जय के शब्द की मधुर ध्वनि से ऐसी लग रही थी, मानो बिजली की कड़कड़ाहट के साथ मेघों की गर्जना हो रही हो। आचार्यदेव शिवसागरजी महाराज भव्यों के बन्धु हैं, उनके आद्य दीक्षित मुनि अब 'श्रीज्ञानसागर' नाम से मुनियों में प्रसिद्ध और वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं, ऐसा लग रहा है, मानो मुक्तिरूपी स्त्री के शरीर से रमण करने के लिए यह नग्नता को धारण किये हैं।

निर्ग्रन्थता की अनुभूति तो गूंगे व्यक्ति की मिष्टता की अनुभूति की तरह है, निर्ग्रन्थता की भावना सभी भावनाओं में दुर्लभ है, निर्ग्रन्थता को धारण करना जिनेन्द्र भगवान के समीप पहुँचना है, निर्ग्रन्थता की प्रेरणा आत्मकल्याण की प्रेरणा है, निर्ग्रन्थता का ध्यान जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान है, निर्ग्रन्थता प्रवचन का सार है, निर्ग्रन्थता मुक्ति का द्वार है, निर्ग्रन्थता ही अनाकुलता है, निर्ग्रन्थता जीवन की सफलता है, निर्ग्रन्थता निष्काम योग है, निर्ग्रन्थता जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप है, निर्ग्रन्थता शत्रु-मित्र में समता है, निर्ग्रन्थता ही निश्चिन्तता है।

अत्यन्त दुर्लभ चारित्र की आधार-भूमि निर्ग्रन्थता की हमेशा भावना करते हुए, वह मुनि ज्ञानसागरजी शास्त्र ज्ञान को आत्मज्ञान में परिणत कर रहे थे। वह द्रव्यश्रुत को भावश्रुत में निरन्तर आरोहण करा रहे थे। व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय ही प्रधान है, इस प्रकार की अनुभूति उन्हें स्वयं ही हुई थी। **दोषों में मौन रहना और गुणों का निरीक्षण करना ही आत्म कल्याण में तत्परता है।**

एक बार उन्होंने देखा कि क्षुल्लक दीक्षा के समय कोई साधु चश्मा को धारण किये हुए बैठे थे। तभी आचार्य शिवसागर महाराज ने कहा-यह चश्मा भी परिग्रह है, इसलिए इसे हटा दो। मुनि ज्ञानसागर जी अपने गुरु की परिग्रह के प्रति सूक्ष्म दृष्टि को जानकर अपने मन में हर्षित हुए। आचार्य श्रेष्ठ मुनि ज्ञानसागर जैसे विद्वान पुरुष को अपने शिष्य के रूप में बना करके सन्तुष्ट हुए थे। संघ में नियम से संघस्थ मुनि, आर्यिका और उत्कृष्ट श्रावक, श्राविकाओं का अध्ययन चलता था। १९६२ ई० में जयपुर जिले के जोबनेर नगर में प्रवास था। उस समय आचार्य संघ में मुनि ज्ञानसागरजी

के साथ-साथ श्रुतसागरजी, भव्यसागरजी, अजितसागरजी, जयसागरजी आदि मुनि और सुपार्श्वमती, इन्दुमति आदि आर्यिकाएँ सुशोभित होती थीं। श्री ज्ञानसागरजी की प्रेरणा से और श्री शिवसागर आचार्यदेव के माध्यम से 'शान्तिवीर जैन गुरुकुल' की स्थापना वहाँ हुई थी।

धीरे-धीरे परमागम के कितने ही विषयों में चर्चा के दौरान सङ्घस्थ लोग असन्तुष्ट भी हो जाते थे। मुनि श्री ज्ञानसागरजी हमेशा आगम ग्रन्थों का सन्दर्भ देकर ही चर्चा करते थे। ज्यादातर भक्ष्य की प्रासुकीकरण विधि के बारे में विसंवाद हो जाता था। यह बात धीरे-धीरे बढ़ती गई। तब मुनिश्री ने एक बार 'नियमसार' की गाथा का चिन्तन किया-अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ हैं, इसलिए अपने दर्शन और पर-दर्शन वालों के साथ विवाद नहीं करना चाहिए। उसके बाद मौनपूर्वक आचार संहिता में लिखी विधि के अनुसार शुद्धोपयोग की मुख्यता से वह प्रवृत्ति करने लगे। मुनि-दशा में ही आत्मा का अनुभव मुख्य रूप से होता है, इस प्रकार सोचकर चिरकाल से जिस आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, उसका अनुभव करना ही श्रेष्ठ है। उसी में अवस्थित होने के लिए वह समय गुजारते थे। मौन हो जाने पर भी भोजन चर्या के समय रूढ़ि से बने हुए आहार को छोड़कर ही वह भोजन करते थे। इसमें भी किसी आर्यिका को आपत्ति हो गयी। तब उन्होंने चिन्तन किया कि-उस-उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसके साथ क्लेश लगा हो और उस-उस वस्तु की समायोजना कर लेना चाहिए जिससे विशुद्धि बढ़ती हो। उसके बाद नम्रीभूत अंगों के साथ कोमल वचन समूह को धारण किये मुनि श्री ज्ञानसागर जी विहार करने के लिए उद्यत आचार्यदेव के चरणों में प्रणाम करके कहा-आप जो आज्ञा करेंगे उन्हीं वचनों में मेरी परम प्रीति है, फिर भी मैं यही रुकने की इच्छा करता हूँ, इस प्रकार की आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं कुछ भी आपके प्रतिकूल नहीं करूँगा, ऐसा कहकर वह क्षणभर बैठे रहे।

तभी आचार्यवर्य ने कहा-आपको सभी शास्त्र दर्पण की तरह ज्ञात हैं, आप करणानुयोग और चरणानुयोग में कुशल हैं, गुरु विनीत हैं, आपकी

जैसी इच्छा हो रही हो वैसा करें। अनुभवशील होने से इसमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार स्वीकृति के वचन शिर पर धारण कर निरतिचार व्रत के पालन में तत्पर हो योग्य क्षेत्र को उन्होंने पद विहार से अलंकृत किया। समीचीन धर्म का उपदेश करने से पहले वह नमस्कार मन्त्र का उच्चारण इस प्रकार कहते थे–णमो अरहंताणं इत्यादि, णमो अरिहंताणमित्यादि, णमो अरुहंताणमित्यादि। अर्थात् अरहंत (पूजा के योग्य अरहंतों) को नमस्कार हो, अरिहंत (कर्मों से रहित अरिहंतों) को नमस्कार हो, अरुहंत (जन्म रहित अरुहंतों) को नमस्कार हो।

प्रवचन कला में निपुण, प्रश्न पूर्ण होने से पहले ही उत्तर को देखने वाले मुनि श्री आचारमार्ग के अनुसार विहार करके रत्नत्रय की विशुद्ध भावना से प्रभावना करते थे। धर्म के प्रचार में वह अपने को संलग्न नहीं करते थे। धर्म प्रचार के लिए जब उन्हें कोई भी उत्साहित करे तो वह कहते थे– ''मैं तो साधक हूँ, प्रचारक नहीं हूँ।''

अजमेर स्थित सोनीजी की नसियां में उन्होंने वर्षायोग की स्थापना की। वर्षायोग से पहले वह नसीराबाद में थे। उस समय अजमेर नगर के छगनलाल पाटनी नाम के कोई श्रावक करणानुयोग के ज्ञाता होने पर भी निश्चय धर्मावलम्बी जनों की संगति से मुनिजनों में श्रद्धा से दूर गये थे। किसी ने कहा–छगनलालजी! नसीराबाद चलो, वहाँ कोई मुनि ज्ञानसागरजी हैं, जो विद्वानों में तिलक (श्रेष्ठ) हैं। उन्हें अजमेर नगर में ले आते हैं। तब छगनलाल ने कहा–''बहुत ज्ञानसागर आते हैं, मैं कही नहीं जाता।'' वह नसीराबाद नहीं गये, बाद में जब वर्षायोग अजमेर में हुआ, तो एक बार वह परीक्षा के लिए सभा में आगे आकर बैठ गये।

भरत चक्रवर्ती के वैभव का विस्तार सहित वर्णन मुनि श्री ने किया। उन्होंने कहा कि वह चक्रवर्ती इस प्रकार के वैभव का स्वामी था। इतना सुनाकर वह श्रावक तत्क्षण कहने लगे–क्षायिक सम्यग्दृष्टि को स्वामित्व कैसे हो सकता है? क्षणभर रुककर धैर्य के साथ मुनि श्री ने उत्तर दिया कि आपने ठीक कहा है, फिर भी मेरे प्रश्न का उत्तर दो कि–''यदि कोई उस चक्रवर्ती की स्त्री का अपहरण कर ले, तो फिर वह अपनी स्त्री को लाने के

लिए प्रयास करेगा या नहीं करेगा।'' यह सुनकर वह श्रावक विद्वान् मौन हो गये और कहने लगे भगवन्! मैं अपने दुराग्रह के कारण आज तक ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। मेरे दोषों को क्षमा करो। उसके बाद श्रावक ने गुरु रूप से उनको स्वीकार कर लिया। ताराचन्द गंगवाल, माधोलाल गदिया इत्यादि श्रावक मंडली से सुशोभित वह छगनलाल हमेशा अनेक प्रश्नों को पूछते थे। श्रीगुरुजी भी अपनी सरलता और अपनी प्रज्ञा से उनको संतुष्ट कर देते थे। एक दिन चर्चा के दौरान दो आचार्यों के अभिप्रायों में भिन्नता को सुनकर वह पाटनी जी कहने लगे–इन दोनों में कौन सा मत सही है? तब गुरुदेव ने कहा–इसका निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि उनके बाद के सभी आचार्य परमेष्ठी इस विषय में मौन धारण किये हैं, फिर भी जब समाधान के लिए उन्हें बाध्य किया गया, तो मुनिराज ने विनोद भरे स्वर से कहा–भाई! मेरे शिर पर दो-तीन बाल ही बचे हैं उन्हें तो बचे रहने दो। केवलज्ञान के बाद भी कुछ जानने योग्य है, अन्यथा उसके बाद क्या करोगे?

बहुत काल से मतों में भिन्नता रही है, फिर भी मूल तत्त्व में कोई भिन्नता नहीं कही है और न ही आचार्य देव के मन में कभी भी दुर्भाव रहा है, इसलिए हम लोग विवाद में क्यों काल गवायें? बुद्धिमान् पुरुषों का समय अच्छे शास्त्रों के पाठ में हर्ष के साथ व्यतीत होता है और पृथ्वी पर भार वालों का समय मौखर्य और धनार्जन में जाता है। जिसकी शास्त्रों में ममता रहती है, उसकी बुद्धि में ममता नहीं रहती है। यदि बुद्धि में ममता रहती है, तो वह भी क्रम से कम होती जाती है। हे भव्य! शास्त्र का फल तो यही है, कि बुद्धि समतामय हो। इसी फल का यह ध्यान करना चाहिए कि ज्ञान का और कोई फल नहीं है।

प्रेमराज दोसी नाम के कोई श्रावक परीक्षा-प्रधानी थे, जो स्वाध्याय के समय आये और उन्होंने उपचार विनय नहीं की। ऐसा देखकर किसी ने कहा कि आपने सभ्यजनों के योग्य समाचार क्यों नहीं किया? मैं नमोऽस्तु नहीं करूँगा क्योंकि मुनि के पास चश्मे का परिग्रह है। सभा के लोग कुछ हँसने लगे, फिर भी मुनिराज क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए और उन्होंने कोमल/

मधुर वचनों से कहा–हाँ! वह परिग्रह है, यदि मैं उस चश्मे से सुन्दर रूप का अवलोकन करूँ। स्वाध्याय लेखन कार्य के लिए और समितियों का निर्दोष पालन करने के लिए उस चश्मे को धारण करने में कोई दोष नहीं देखता हूँ, क्योंकि वह अपरिहार्य विधान है। गुण–दोषों का इस प्रकार का विवेचन युक्ति युक्त है। इस प्रकार अवधारित करके लज्जा सहित वह क्षमा की प्रार्थना करते हुए बार–बार नमन करने लगे। वह मन में भावना करते हैं–''अत्यन्त पुराना सुतली से बंधा यह उपकरण वास्तव में अत्यन्त उपकारी है, क्योंकि यह मूर्च्छा के अयोग्य है।''

इस प्रकार स्व–पर कल्याण के इच्छुक मुनिश्री ने राजस्थान प्रान्त में ही विहार, धर्म–उपदेश, वर्षायोग, ग्रीष्मयोग और शीतयोगों को निष्ठापित करके संवर, निर्जरा तत्त्व को खूब सम्पन्न किया।

१९६५ ई० में ब्यावर समाज के द्वारा पं० हीरालाल शास्त्री, पं० प्रकाशचन्द्र जैन, पं० गणेशीलाल रतनलाल कटारिया इत्यादि प्रमुख विद्वानों के सान्निध्य में ''ज्ञानसागर ग्रन्थमाला प्रकाशन समिति ब्यावर'' इस नाम की संस्था स्थापित हुई। ज्ञान, चारित्र और संयम से जो वृद्धि को प्राप्त हुए और महान व्यक्तियों में बढ़े हुए हैं। जिनकी तृष्णा जीर्ण (नष्ट) हो गयी है, जो राग–द्वेष से रहित हैं, वह संयम के समीचीन प्रभाव के कारण कभी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं।

मुनि ज्ञानसागरजी की पंचेन्द्रिय के विषयों में गृद्धता नहीं रही। संसार में उनकी ख्याति/पूजा के विषय में भी इच्छा नहीं थी। ऐसे मनीषी को ग्रन्थों से क्या और उनकी प्रशंसा ग्रन्थमाला संस्था से क्या? कर्तव्य पूर्ति करना ही उनका सुख है। नहीं चाहने वाले को सब कुछ प्राप्त होता है, चाहने वाले को कुछ नहीं प्राप्त होता है। यह विचित्र दशा है जैसे पीठ पीछे के सूर्य की छाया सामने दिखने पर भी पकड़ने में नहीं आती और मुख फेर लेने पर वही छाया पीछे हो जाती है।

श्री ज्ञानसागर मुनिराज विहार करके रैनवाल ग्राम में आ गये। वहाँ के दो श्रावक गुलाबचन्द्र गंगवाल और रतनचन्द्र गंगवाल कुष्ठरोग से असाता के उदय का अनुभव करते थे। मुनिभक्त परायण किसी श्रावक ने

कहा–गुरुदेव का पादोदक भक्ति से वन्दना करके कुष्ठरोग से पीड़ित को अपने हाथों में लगाना चाहिए। जिससे वह दोनों श्रावक आहारचर्या के समय उनके पीछे–पीछे चले जाते और उनके गंधोदक को लाकर प्रतिदिन उसी प्रकार लगाते। बीस दिन के भीतर ही उन दोनों का कुष्ठरोग समाप्त हो गया। यह देखकर सभी नागरिक विस्मित हो गये।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुगरिमा आख्यान संज्ञक सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

आठवाँ सर्ग

गुरुदक्षिणा

दीक्षा के बीस दिन बाद अजमेर नगर में आकर मल्लप्पा ने परिवार सहित अंगूठी बेचकर स्वर्ण के एक सौ आठ पुष्प बनवाये और उनसे दोनों मुनिराजों की पूजा की। उसके बाद सभा में खड़े होकर मल्लप्पा ने भाषण देना प्रारम्भ किया। हिन्दी-उर्दू मिश्र भाषा के आश्रय से उन्होंने अपने परिवार का परिचय तथा विद्याधर के जन्म से पहले देखे स्वप्न आदि विषयों का वर्णन तथा लोगों को अच्छे लगने वाले बीच-बीच में अनेक उदाहरणों के द्वारा लगभग डेढ़ घण्टे तक भाषण दिया। १९६८ ई० में एक महीने तक निरन्तर आहार दान, स्वाध्याय, चर्चा, सेवा आदि करके वहीं रहे। तभी मल्लप्पा ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत भी ग्रहण किया। एक वर्ष बाद १९६९ ई० में पुनः आकर केसरगंज, अजमेर में धर्मध्यान में कुशल मल्लप्पाजी ने गुरु की सन्निधि में व्यतीत किया। तभी मुनि विद्यासागरजी ज्वर से पीड़ित हो गए। तेरहवर्षीय अनन्त भी ज्वर से ग्रसित हो गए। जब ज्वर कम नहीं हुआ तब अपने शयन स्थान पर ज्ञानसागरमुनि ने मुनि विद्यासागरजी को बुला लिया। उनके पास शयन करने से ज्वर चला गया। तभी श्रीमंती मुनि विद्यासागरजी को देखने के लिए आई। 'नमोऽस्तु' निवेदित करके माँ ने कहा-स्वास्थ्य कैसा है? हाथ के संकेत मात्र से 'हाँ' ऐसा इशारा कर दिया।

अन्य सभी सम्बन्ध तो स्वार्थ की दीवाल के आश्रित हैं, किन्तु माता का पुत्र से सम्बन्ध गाय के समान प्राकृतिक है। पुत्र के वियोग का जैसा दुख माँ का होता है, वैसा दुख पृथ्वी पर पिता भाई और बन्धुओं को नहीं होता है। स्नेह के वशीभूत हुई माँ पुत्र को पुत्र के समान ही देखती है। फिर वह पुत्र चाहे सपूत हो अथवा कपूत हो, युवा हो, बड़ा हो अथवा मुनि हो। तेरह-चौदह वर्ष के अनन्तनाथ और शान्तिनाथ प्रवचन से पहले श्रीज्ञान-सागर गुरुदेव के द्वारा जो णमोकार मन्त्र और चत्तारिदण्डक का पाठ पढ़ा जाता था, वह दोनों भाई भाषा की परतन्त्रता के कारण उतना ही समझ पाते

थे। एक बार गुरु की आज्ञा से किसी दिन विद्यासागर मुनि प्रवचन करने के लिए जा रहे थे, तो विनय के साथ दोनों भाइयों ने निवेदन किया–"आपको वैराग्य किस कारण से हुआ, वैराग्य का कारण अवश्य ही बताना चाहिए।"

मुनिराज ने कहा–सदलगा से लगभग सत्तर कि॰ मी॰ दूर शेडवाल गाँव में आचार्य श्रेष्ठ श्री शान्तिसागर जी आये थे। जब मैं नौ वर्ष का था, तब परिवार सहित सदुपदेश सुनने के लिए वहाँ गया था। उस समय तीन दृष्टान्तों के माध्यम से आचार्यदेव ने पूरी सभा को सम्बोधित किया था। उनमें से दो दृष्टान्त मेरे हृदय में स्थित हैं। मेरे मन में वैराग्य का बीज तभी अंकुरित हो गया था, फिर भी मैं घर छोड़ने के लिए उस समय असमर्थ था।

वह कथानक इस प्रकार है–कोई ब्राह्मण था, जो तैरना नहीं जानता था और वापी के निकट ही स्थित होकर डूबता और ऊपर आ जाता था। इस प्रकार देखकर एक ग्वाला पूछता है–आप क्या करते हैं? ब्राह्मण ने गर्व से कहा–अरे मूढ़! तू क्या जाने? तुझे पूछने से क्या मतलब? मैं जलदेवता का दर्शन करता हूँ। ग्वाले ने विनम्रता से मन में विचार किया "जल देवता दर्शन देते हैं।" इस प्रकार शिर हिलाकर के वह चला गया।

उसके बाद वह सुबह होते ही अंधेरे में चलते हुए लोगों की भीड़ होने से पहले ही उस स्थान पर आ गया। निश्चित ही मैं धन्य हूँ, जो आज मैं जल देवता का दर्शन करूँगा। अपने मन की आस्था के बल से बिना विचार किये ही वह ग्वाला उस बावड़ी में शीघ्र ही अपने मन में संकल्प विधि को करके कूद गया। ठीक ही है श्रद्धा कभी भी कुल, धर्म और बुद्धि से नहीं बँधती है। थोड़ी देर बाद अपने धर्म में घमण्ड रखने वाला ब्राह्मण उसी स्थान पर आता है और वहाँ वह तभी बहुत भारी भीड़ तथा शोरगुल विस्मय से देखता है। अरे! बताओ तो क्या हो गया है? जिस कारण से यहाँ इतनी भीड़ लगी है। किसी ने कहा–कोई यहाँ प्रातः आकर डूब गया और बाहर नहीं आया है। ब्राह्मण ने सोचा–अहो! वही मूर्ख व्यर्थ में मारा गया, व्यर्थ में ही प्राण छोड़ दिये। प्राणों की रक्षा के लिए कहीं कोई देवता नहीं आता है।

ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण जल में देखता है और खूब चिल्लाकर

कहता है–बाहर आ। वह ग्वाला आधा घण्टे तक उस बावड़ी में जलदेवता का स्मरण करता हुआ डूबा रहा। उस ग्वाले की निश्छल श्रद्धा से तभी जलदेवी प्रसन्न होकर प्रकट हुई और कहने लगी–आप क्या चाहते हो? ग्वाले ने कहा–कुछ नहीं, केवल आपका दर्शन ही चाहता हूँ। 'तथाऽस्तु' ऐसा कहकर वह देवी फिर अदृश्य हो गई। वह ग्वाला बावड़ी से ऊपर आकर बहुत भीड़ के बीच में उस ब्राह्मण के चरण छूकर निवेदन करता है कि–आपने महान उपकार किया है। तभी ब्राह्मण ने कहा–मैंने तो झूठ बोला था। मैंने कभी कोई देवता नहीं देखा। आज से तुम मेरे गुरु हो ऐसा कहकर ग्वाले के चरणों में गिरकर वह रोते हुए कहने लगा– ''श्रद्धा किसे कहते है?'' यह अब मुझे ज्ञात हो गया है।

दूसरी कथा इस प्रकार है–एक चोर अपने पुत्र को शिक्षा देता है, कि कभी भी दिगम्बर मुनि के प्रवचन नहीं सुनना। एक बार वह चोर पुत्र चोरी करके दौड़ रहा था। रास्ते में उसके पैर में काँटा चुभ गया। उसको निकालने के लिए वह रुक गया। उसी समय पर दिगम्बर मुनि के प्रवचन उसके कान में पड़ गये। उसने सुना–''सत्यमेव जयते'' अर्थात् सत्यवादी की सदा विजय होती है। मुनि के प्रवचन सुनकर वह विचार करता है, कि मुनि बहुत अच्छा बोलते हैं, फिर पिता ने क्यों रोक रखा था? उसने विचार किया कि मुनिराज के वचनों की परीक्षा करनी चाहिए। दूसरे दिन उसने मन में निश्चित किया, कि आज मैं सत्य ही बोलूँगा। उस दिन वह राजमहल में चोरी करने के लिए गया। द्वारपालों के द्वारा प्रत्येक द्वार पर पूछा गया–कहा जा रहे हो? वह कहता है–चोरी करने के लिए। किसी ने पूछा–कौन हो तुम। उसने कहा–मैं चोर हूँ। इस प्रकार उसके कहने पर किसी ने विश्वास नहीं किया। वह राजमहल में राजकोष से बहुत सारा धन लेकर बाहर आ गया। नगर के बाहर वृक्ष के नीचे प्रसन्नता से बैठ गया। बाद में महल में चोर की खोज की गई, चोर पकड़ लिया गया। उसने पुनः नियम लिया मैं सत्य ही बोलूँगा। वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राजा पूछता है–तुम कौन हो? वह कहता है– मैं चोर हूँ। राजा ने पूछा–इस छिपे हुए वस्त्र में क्या है? उसने कहा–चुराया हुआ धन। राजा भी उसका विश्वास नहीं

करता है। धन को देखकर राजा पुनः पूछता है–किसलिए आये हो? चोर कहता है–धन देने के लिए। ऐसा क्यों? चोर ने कहा–मैंने मुनि के वचनों की परीक्षा करने के लिए इस प्रकार किया था। बाद में वह चोर मुनि के समीप जाकर के आत्महित में प्रवृत्त हो गया।

इस प्रकार दृष्टान्त को सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए। दो महीने तक मल्लप्पा परिवार सहित वहीं केसरगंज अजमेर में ज्ञान, वैराग्य, सेवा आदि की भावना से पुण्यार्जन करके जब अपने घर चलने के लिए उद्यत हुए, तभी श्रीमंती माँ ने गद्‌गद वचनों से आशीर्वाद की याचना की। मुनि विद्यासागर ने उनके मस्तक पर पिच्छी रखकर ''आर्यिका बनो, तुम्हारा कल्याण हो'' ऐसा आशीष दिया।

शास्त्र संगति में मन लगाने वाले गुरु ज्ञानसागरजी स्वयं तो स्वाध्याय में संलग्न रहते ही थे साथ-साथ अपने शिष्य को भी रुचि पूर्वक पढ़ाते थे। धीरे-धीरे अष्टसहस्री जैसे क्लिष्ट ग्रन्थ को भी उन्होंने मिष्ट रूप से पढ़ा दिया। प्रमेयरत्नमाला पढ़ने के समय अति नीरस विषय होने पर भी कही बीच-बीच में थोड़ा कौतुक भी हो जाता था। एक बार गुरुजी ने कहा–शीत और उष्ण दोनों स्पर्शों का जो कि परस्पर में विरुद्ध हैं उनका एक साथ रहना नहीं होता है। तभी शिष्य ने कहा–गुरुदेव! वह भी सम्भव है। ठण्डे हाथ को दूसरे हाथ से मलकर वह दिखाते हैं, देखो! दोनों स्पर्शों का एक साथ अनुभव कर रहा हूँ। मन्द-मन्द हँसते हुए गुरुजी ने कहा–फिर भी अनुभव तो एक समय में एक का ही होता है। दीक्षा के बाद पहले मूलाचार ग्रन्थ का स्वाध्याय हुआ। उसके बाद गुरुजी ने 'मूलाचार प्रदीप' शास्त्र को पढ़ने के लिए दिया। मुनि विद्यासागरजी ने उस ग्रन्थ को मूल श्लोक पाठ के साथ पन्द्रह दिन में स्वयं पढ़ लिया। आचरण की शिक्षा भी शिष्य ने प्रायोगिक ही ग्रहण की थी, उनको वह शिक्षा मात्र कण्ठगत नहीं थी। गुरु महाराज वृद्ध होकर भी कभी भी शिथिलता से आचरण नहीं करते। मुनि विद्यासागरजी लघुशंका के लिए हाथ का सहारा देकर गुरुजी के साथ गए। वापस आकर वसतिका के समीप चरणों का प्रक्षालन करके पास में रखे हुए नेपकिन (पोंछने का कपडा) को उठाकर जल पोंछने के लिए उद्यत

हुए। शिष्य को देखकर गुरुजी ने कहा–आपके हाथ में यह वस्त्र कहाँ से आ गया? ऐसा सुनकर वह उस कपड़े को छोड़कर उनके अभिप्राय को जान गए और उसके बाद फिर कभी उन्होंने पुनः उसे ग्रहण नहीं किया।

अपने जीवन में गुरुजी ने एक सौ आठ बार सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ पढ़ा। ज्ञान के अर्जन के साथ आवश्यक क्रियाओं को समय से पूर्ण करके ज्ञान और क्रिया करने में कुशल गुरु आत्मानन्द का अनुभव भी बिना खेद के करते थे। भावशुद्धि से प्रतिक्रमण क्रिया समाप्त करके जब गुरुदेव उठ खड़े हुए, तभी किसी ने कहा–भगवन्! आप कितने समय से दीक्षित हैं? गुरुजी ने कहा–अभी–अभी तो दीक्षित हुआ हूँ। श्री गुरुजी के वचनों को शिष्य अच्छी तरह सुनकर मन में धारण करके हर्षित होते और पग–पग पर गुणों को ग्रहण करने में निपुण अपूर्व शिक्षा को ग्रहण करते रहते थे। क्रीड़ा मात्र में ही श्रीगुरु ने सभी विषयों का ज्ञान शिष्य को करा दिया। विद्यासागर! देखो! शब्दालंकार तो शब्दों का गणित है। अर्थालंकार के साथ ही आनन्द उत्पन्न होता है। कभी–कभी शब्दालंकार के साथ ही आनन्द उत्पन्न होता है। कभी कभी शब्दालंकार में भी भाव गाम्भीर्य देखा जाता है। जैसे–''ये साक्षरा भवन्ति ते विलोम रूपेण राक्षसा भवन्ति।'' अर्थात् जो साक्षरा होते हैं, वे विलोम रूप से राक्षसा होते हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा विद्वद्‌भोग्या है। केवल शब्द, न्याय, सिद्धान्त शास्त्रों का ही अध्ययन गुरुजी नहीं कराते थे, अपितु समीचीन दृष्टान्त के माध्यम से विषय का ज्ञान भी गुरु के द्वारा कराया जाता था। लोभ ही पाप की खानि है। यह बात एक बार दृष्टान्त से समझाई–कोई तपस्वी किसी शून्य स्थान में रहता था। उस तपस्वी की निर्लोभवृत्ति की चर्चा सर्वत्र फैली थी। वह किसी को भी नहीं देखता था और किसी के साथ वार्तालाप भी नहीं करता था। कोई देवकन्या उस तपस्वी के तप से अर्जित पुण्य को भस्मसात् करने के लिए तत्पर हुई। वह देखती है, कि यह तो किसी प्रकार भी वश में नहीं आ रहा है। यह कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। उसने जाना कि यह एक महीने बाद एक बार वृक्ष का थोड़ा–सा फल ही ग्रहण करता है। उस फल में अमृत की बूँदें लगाकर वह अदृश्य हो गई (फल का स्वाद लेकर वह फिर से अमृत समान स्वाद को

ग्रहण करने के लिए बाहर आ गया। उस देवी ने फल के ऊपर पुनः अमृत सिञ्चन किया। इस तरह फल का स्वाद लेने के लिए वह लुब्ध हुआ बार-बार बाहर आने लगा, तभी वह देवी उस तपस्वी को अपने रूप के सौन्दर्य से मोहित करने में सफल हो गई। लोभ के कारण तपस्वी भ्रष्ट हो गया। इसलिए ही कहा है-धर्म का संरक्षण करने के लिए सज्जनों को हमेशा लोभ का नाश करना चाहिए। वह तपस्वी तपश्चर्या से तप्त होकर भी फल के लोभ से भ्रष्ट हो गया। जिह्वा लोलुपी जीव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कदापि नहीं कर सकता है। मन:संयम के अभाव में बताओ उसमें व्रत कैसे रह सकते हैं? लोभ रहित आचरण के द्वारा धर्म प्रभावना स्थायी होती है। दो प्रतिमा धारी व्रतीजन भी ऐसी प्रभावना करने में समर्थ हो सकता है।

ऐसे मुनि ज्ञानसागरजी ने १९६९ ई० में मुनि विवेकसागरजी की दीक्षा सम्पादित की। तभी दीक्षा के समय संघस्थों ने और समाज के प्रतिष्ठित लोगों के द्वारा सर्व साक्षीपूर्वक आचार्यपद की घोषणा की गई। परोपकार के लिए उन्होंने उस पद को स्वीकार किया और वह पद उनके निर्वहन (धारण) करने के लिए ही था, गर्व के लिए नहीं था। वह समाज के द्वारा आचार्यपद से अलंकृत हुए। वृद्ध अवस्था में संघ की वृद्धि हुई। संघ संचालन में गुरु की सहायता के साथ मुनि विद्यासागरजी हमेशा तत्पर दिखते थे। एक दिन गुरुदेव के केशलोंच करके फिर दीपचन्द्र ब्रह्मचारीजी के केशलोंच करके अपने भी लोंच किये। इस बहुत परिश्रम के कारण मुनि विद्यासागरजी को बुखार आ गया। वह नियम से प्रातःकाल और सायंकाल के समय एक घंटे तक गठियावात (साइटिका) रोग से पीड़ित गुरुदेव की तैल मर्दन के द्वारा रुचिपूर्वक वैय्यावृत्ति करते थे।

रत्नत्रयधारी श्रमण की आपत्ति को जिसने यहाँ दूर किया है, उस पुण्यवान जीव ने हमेशा के लिए मोक्षमार्ग सम्बन्धी अपने विघ्नों का नाश कर लिया है। किसी दूसरे के कहे बिना स्वभाव से ही दूसरे की सेवा में तत्पर होना तथा साधर्मी में अनुराग रखना यह सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं।

गुरुदेव की सेवा सौभाग्य से प्राप्त होती है और इसमें रत्नत्रय की भी साथ-साथ सेवा हो जाती है। सेवा अर्थात् वैय्यावृत्ति तप सभी तपों में श्रेष्ठ

कहा गया है और यह तप कर्म की निर्जरा का कारण है।

गुरुदेव की सेवा दुखों को दूर करने वाली, संसार का नाश करने वाली तथा शिव (मोक्ष) सुख को करने वाली है। अर्जित किए पुण्य से सौभाग्य वाले पुरुष ही इस श्रेष्ठ कार्य को पृथ्वी पर प्राप्त करते हैं। इस तप के गुणों के द्वारा स्वयं को, रोगी को और देखने वाले इन तीनों के चित्त में प्रसन्नता आती है, समीचीन मार्ग में स्थिरता आती है, विश्वास में वृद्धि अर्थात् धर्म के प्रति श्रद्धान दृढ़ होता है और धर्म का प्रवाह बढ़ता है।

जो समय बचता था, उसे वह पढ़ने में, लेखन में और षट्आवश्यकों में लगाते थे। उन्होंने यहाँ शारदा स्तुति द्रुत विलम्बित छन्द में रची। शिष्य ने जब वह स्तुति गुरुवर्य को दिखाई तो वह उसे देखकर प्रसन्न हुए। इस प्रसन्नता का कारण शिष्य की उन्नति को देखने से उत्पन्न हर्ष था।

मुनि विद्यासागरजी ने कन्नड़ भाषा में पञ्चास्तिकाय शास्त्र का अनुवाद किया। कल्याणमन्दिर स्तोत्र और एकीभाव स्तोत्र इन दोनों का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया और ज्ञान की वृद्धि के हर्ष से वह पद्यानुवाद बड़े मनोहर हैं। जम्बूस्वामी का श्रेष्ठ चरित्र भी मुनि विद्यासागरजी ने रचा। उसे किसी मनुष्य ने चुरा लिया। इस प्रकार लाभ-अलाभ में भी समता चारित्र ही उन्होंने मुख्य माना। गुरु के साथ विहार काल में भी हाथ के आलंबन से गमन करते थे और प्रत्येक क्रियाओं में सावधानमना होकर वह प्रवृत्ति करते थे। गुरुदेव भी वृद्ध अवस्था में यथाशक्ति विहार करते थे। वृद्धावस्था में भी वह चित्त की शुद्धि के लिए विहार करते रहे। एक स्थान पर अधिक रहना राग की वृद्धि का कारण माना गया है।

अजमेर नगर में, सोनीजी की नसियां में, प्रांगण में, श्री ज्ञानसागर आचार्य केशलुंचन के उपरान्त विराजमान थे। तभी फ्रांस और स्विटजरलैण्ड के निवासी दो विदेशी नसिया के पिछले भाग में विश्वप्रसिद्ध साकेत नगरी देखकर आचार्यदेव के दर्शन से विस्मित हुए। वहाँ ''टीकमचन्द्र जैन हाई स्कूल'' विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री मनोहरलालजी अंग्रेजी भाषा में मुनिचर्या का व्याख्यान किए। जब उन अंग्रेजों ने महाराज का नाम पूछा तो उन्होंने कहा-'ऑसन ऑफ नॉलिज' अर्थात् ज्ञान का सागर। उसके बाद

दोनों विदेशियों ने उनके साथ छाया चित्र खिंचाने की प्रार्थना की। प्रधानाध्यापक ने कहा कि धर्म प्रभावना के लिए यह करना चाहिए ऐसा कहने पर गुरुदेव ने स्वीकृति प्रदान की। पुनः फिर विनय के साथ प्रार्थना की कि आपके साथ कायोत्सर्ग की मुद्रा में फोटो विदेश में दिगम्बर मुद्रा को दिखाने के लिए अति आवश्यक है। उनके मन की इच्छा पूर्ति होने पर दोनों विदेशी हर्ष के साथ चले गये। इस घटना को श्रीमती कनक जैन के श्वसुर मानकचन्द्र जैन ने प्रत्यक्ष देखी।

एक बार उन्होंने ही सुना कि किशनगढ़ के संस्कृत विद्यालय में पं॰ भूरामल की प्रतिमा का अनावरण हुआ। इस आयोजन के समय संस्कृत के महान् विद्वान् के कर्तव्य की प्रशंसा अनेक विद्वान् लोगों ने की थी। उनमें से एक कहते हैं कि पं॰ भूरामल की संस्कृत को समझने के लिए कहीं-कहीं उपलब्ध शब्दकोश भी अपर्याप्त दिखाई देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जो अब वर्तमान में मुनि ज्ञानसागरजी हैं, वह प्रायश्चित के समय पर आचार्य विद्यासागरजी के चरणसन्निधि में भूमि पर बैठकर गवासन से प्रायश्चित की याचना करते थे-भो! गुरुदेव! कृपा करो। इन शब्दों से वह बहुत बार उनसे कहते थे।

मण्डा, भैंसलाना, काँटा, बालू, फुलेरा आदि स्थानों पर विहार करते हुए जब उन्होंने सुना कि धर्मसागर आचार्य महाराज का संघ आ रहा है, तब हर्ष से वह पहले से ही किशनगढ़ में आकर उनकी आगवानी के लिए ठहर गए। उस समय उनके साथ विद्यासागर जी, क्षु॰ सन्मतिसागर, क्षु॰ सुखसागर आदि पाँच साधु भी साथ थे।

सभा में ''पहले आप सिंहासन पर बैठें'' इस प्रकार ज्ञानसागरजी के इशारे को समझकर श्री धर्मसागर आचार्य ने कहा-ऐसा नहीं पहले आप बैठें, क्योंकि आप ज्ञानवृद्ध हैं। तब श्री ज्ञानसागरजी ने कहा-नहीं, आप तो तप वृद्ध हैं, इस प्रकार परस्पर आदर के साथ ऋजुधर्म से युक्त दोनों आचार्य महाराज बैठ गये। दोनों आचार्य की जयकार से सभा भवन गूंज गया। सत्य ही है-जो गम्भीरता में वृद्धों में वृद्ध हो जाते हैं, ऋजुधर्मता में जो बालकों के बीच बालक हो जाते हैं, पटुवाचना के अवसर पर जो विद्वानों

के बीच विद्वान् हो जाते हैं, सच ही है महान् व्यक्तियों की प्रवृत्ति सभी के अनुकूल होती है। मल्ल अपने बराबर के मल्ल के साथ, साधु अपने बराबर के साधु के साथ, पण्डित अपने बराबर के पण्डित के साथ हमेशा मिलने की इच्छा करता है। समान कुल और जाति वालों का, समान धर्म पर चलने वालों का और समान बल वाले स्त्री पुरुषों का सुख अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट होता है।

सागर निवासी पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य जो कि अनेक ग्रन्थों के अनुवादक और सम्पादक भी हैं, वह मदनगंज-किशनगढ़ में श्री गुरु ज्ञानसागरजी के दर्शन के सौभाग्य को प्राप्त किए। उन्होंने लिखा है– संस्कृत साहित्य में आपका पूर्ण अधिकार है। आप प्रवचनसारगामी हैं, शब्द विश्लेषण में अत्यन्त निपुण हैं। हिन्दी प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आप अर्थान्तर से करते हैं, जैसे 'नेक' शब्द राष्ट्र भाषा हिन्दी का है फिर भी आपने निष्काम अर्थ में प्रयोग किया है। जिसके इः अर्थात् काम नहीं रहता है, उसे नेक कहते हैं। आपने अपनी कुशलता से थोड़े ही समय में विद्यासागर मुनिराज को निष्णात किया है। किशनगढ़ में दर्शन के समय सामयिक और सामायिक शब्द पर विशद चर्चा हुई। अजमेर लौटकर आने पर सहसा मेरे मुख से निकल गया–"जो सग्रन्थ होकर भी निर्ग्रन्थ हैं, इस विरोध का परिहार यह है कि सग्रन्थ अर्थात् वह ग्रन्थ (शास्त्र) से सहित हैं। जो सश्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान से सहित होकर भी विश्रुत हैं अर्थात् श्रुतज्ञान से रहित हैं, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विश्रुत अर्थात् विख्यात हैं, ऐसे ज्ञानसागर नाम के आचार्य को हम प्रणाम करते हैं।"

१९७० ई० में वहीं मदनगंज किशनगढ़ में ही विद्यासागर मुनिराज नेत्र रोग से ग्रस्त हो गये अर्थात् उनकी आँखें आ गई तब आपने चश्मे का प्रयोग करके नेत्र रक्षा की। बुढ़ापे से अभिभूत होकर भी निर्जरा तत्त्व में प्रीति रखने वाले श्री ज्ञानसागरजी अपने शरीर की शिथिलता को देखकर बार-बार मुनि विद्यासागर को देखते थे। अपने मन की अभिलाषा कहने की इच्छा करते हुए भी वह रह जाते थे। एक बार उन्होंने विद्यासागरजी को कहा–आचार्य कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थों में ज्ञान शब्द ही बहुलता से प्रयुक्त

होता है, फिर भी समन्तभद्र आचार्यदेव के ग्रन्थों में विद्या शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने पर भी ज्ञान और विद्या ये दोनों शब्द समान अर्थ वाले हैं। तत्काल ही श्री गुरु के अभिप्राय को मुनि विद्यासागरजी नहीं जान पाये। (मेरा जीवन तो अध्यात्म की प्रधानता से कुन्दकुन्ददेव की तरह निकल गया, परन्तु आपका जीवन तो समन्तभद्रदेव के समान धर्मप्रभावना की प्रधानता से बीते इस प्रकार गुरुदेव की मनोभावना थी, ऐसा हम मानते हैं।)

अपने अभिप्राय की गूढ़ता राजा की नीति है और अपने अभिप्राय की गूढ़ता महाराज (मुनि) की विज्ञता है।

नसीराबाद में वर्षायोग का समय व्यतीत करके शीतकाल में १०५-०७ डिग्री बुखार से पुनः मुनि विद्यासागर जी पीड़ित हुए। श्री गुरु ने उपचार के लिए आदेश दिया कि ''सौ वर्ष पुराना घी लाकर छाती के ऊपर मालिश करो।'' वैसा ही करने से बुखार चला गया। सभी को आश्चर्य में देखकर श्रीगुरु ने कहा–पुराना घी, पुराने कथानक, पुराना अन्नपानक, वृद्धों के पुराने संस्मरण, पुराने विद्वानों का चिन्तन, पुराना विशुद्ध जीवन, पुराने चिकित्सकों की अद्‌भुत चिकित्सा, यह सभी श्रेष्ठतम माने गए हैं और सभी को सुख देने वाले हैं।

शीतकाल में गुरुराज के साथ मुनि विद्यासागरजी विराजमान थे, तभी उन्होंने देखा–वृद्ध गुरु के मुख से लाला (लार) बह रही थी। यह देखकर उन्होंने साहित्यिक शैली में कहा–मुखरूपी महल का द्वार निकल गया है। शिष्य की प्रत्युत्पन्न मति को देखकर गुरु का मुख कमल खिल गया।

आगम में कथित विधि से सल्लेखना की आराधना करने की इच्छा आचार्य ज्ञानसागरजी की हुई। वह सल्लेखना समस्त आधि, व्याधि और उपाधि इन तीनों दोषों से शून्य होती है जन्म, जरा और मृत्यु इन तीनों रोगों का नाश करने वाली होती है और रत्नत्रय को पूर्ण करने वाली होती है। आचार्य ज्ञानसागर जी ने सभी तरह से योग्य अपने शिष्य मुनि विद्यासागरजी के लिए आचार्य पद प्रदान करने का मन बना लिया। अल्प उम्र में महान् आचार्य पद के भार को वहन करने के लिए, मैं समर्थ नहीं हूँ, ऐसा मानकर

मुनिराज ने उस पद को ग्रहण करने के लिए स्वीकृति प्रदान नहीं की। आचार्यदेव की आज्ञा से छगनलालपाटनी, कैलाशचन्द्रपाटनी आदि विश्वस्त श्रावकों ने पद स्वीकारने के लिए मुनि को समझाया। आचार्यदेव के समीप अपने मन के अभिप्राय को कह देना चाहिए, इसके लिए सभी ने मुनिराज से निवेदन किया। अत्यधिक प्रयास से सहमत होकर सभी के साथ मुनि विद्यासागरजी गुरुदेव के चरणों में दृष्टि लगाकर बैठ गए। आचार्यदेव ने कर्तव्य की पूर्णता गुरुसेवा और परमागम की आज्ञा को याद दिलाकर अपने अभिप्राय को कह दिया। उस पर भी असहमति को देखकर गुरुजी ने कहा–''शिष्य को गुरुदक्षिणा देना चाहिए, यही शिष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है'' गुरु की अविनय के भय से डरे होने से अत्यधिक आग्रह के कारण गुरु आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करूँगा, इस प्रकार संकल्पित होने से विद्यासागरजी मुनि ने श्रीगुरु के समक्ष अंजुलि बनाकर गीली आँखों से गद्‌गद् भावों से– ''जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही करेंगे'' इस प्रकार की मौन स्वीकृति प्रदान की।

गुरु की आज्ञा महापूजा है, गुरु की आज्ञा महोत्सव है, कण्ठगत प्राण होने पर भी गुरु की आज्ञा सदा मानना चाहिए। मन प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल हो, गुरु की आज्ञा के अनुकूल ही मन का प्रवर्तन सदा होवे। दूसरे दिन ही मंगलमय मुहूर्त में नसीराबाद में स्थित सेठीजी की नसियां में शान्त, गम्भीर वातावरण में आचार्यपद समारोहण का महोत्सव सम्पन्न हुआ। २२ नवम्बर, १९७२ के शुभ दिन आचार्य पद के संस्कार करके अपने आचार्य पद के महत्त्व को छोड़कर विद्यासागर मुनिराज को ऊँचे आसन पर बिठाकर, उससे नीचे फलक (पाटे) पर स्वयं बैठकर विशाल जन समूह के सामने मुनि ज्ञानसागर जी ने निवेदन किया–''भो आचार्य! यह नश्वर शरीर धीरे-धीरे गिरता जा रहा है। अब मैं इस पद का व्यामोह छोड़कर पूर्णरूप से आत्मकल्याण में लगना चाहता हूँ। आगम के अनुसार यह कार्य अत्यन्त आवश्यक और उचित है।''

आचार्य-पद-ग्रहण के समय मुनि विद्यासागरजी हँस रहे थे। गुरुदेव ने उन्हें देखकर पूछा–किसलिए मुस्करा रहे हो? तब मुनिराज ने कहा–

''जैसे आप हँसते हुए इस पद का त्याग कर रहे हैं, उसी प्रकार मुझे भी करना है, इस कारण से हँस रहा हूँ। मोक्षमार्ग ग्रहण का नहीं, त्याग का है।''

आचार्यपद के त्यागी श्रीज्ञानसागर अब प्रायश्चित के समय पर आचार्य विद्यासागर के चरणों में भूमि पर बैठकर गवासन से प्रायश्चित की याचना करते हैं–भो गुरुदेव! कृपा करो। इन शब्दों को उन्होंने बहुत बार दोहराया। उसके बाद वह पहले से भी अधिक समय लगाकर उत्तरदायित्व के भार से और अधिक नम्र होकर वह गुरुदेव की सेवा करने में संलग्न हो गए। गुरुदेव तो रोग की पीड़ा के कारण बाहर अथवा खुले स्थान पर रुकने में असमर्थ थे, फिर भी मुनि विद्यासागरजी अब आचार्य होकर भी गुरुदेव के निकट ही बैठना, सोना, वैय्यावृत्ति और स्वाध्याय करते थे। वह अधिक गर्मी सहन न कर पाने पर भी सहन करते थे।

स्वयं विद्यासागरजी नगर के लोगों के धर्मलाभ के लिए प्रवचन करते थे। ज्यादातर शास्त्र के माध्यम से शास्त्रवाचना होती थी। गुरुदेव ने उन्हें संस्कृत का आराधना-कथा-कोश ग्रन्थ प्रदान किया था। उसी कोश का हिन्दी भाषा में उच्चारण करके वह उपदेश करते थे। प्रतिदिन गुरुदेव की आहारचर्या को पूर्ण करके स्वयं आहार के लिए जाते थे। भस्मौषधि को अपने सामने बनवाकर आम-रस के साथ औषधि आहार के समय उन्हें दी जाती थी। सल्लेखना के छह मास पूर्व ही उन्होंने अन्न-त्याग कर दिया था।

१८ दिसम्बर, १९७२ को आचार्य विमलसागर जी ससंघ नसीराबाद में आये। समाधिक्रिया में संलग्न मुनि ज्ञानसागरजी की परिचर्या और कुशलक्षेम वार्ता को अच्छी तरह करके वह श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए प्रस्थान कर गए।

तभी किशनगढ़ में पूर्व में रहने वाले मुनि सुपार्श्वसागरजी श्री सम्मेदशिखर से आचार्य ज्ञानसागर जी की समाधि क्रिया में सहायता के लिए और उनकी सल्लेखना क्रिया को देखने के लिए वहाँ आ गए। जिसकी उत्तमार्थमरण में भक्ति रहती है उसका ही मरण समय में समाधि से

मरण होता है।''जिसकी उत्तमार्थमरण में भक्ति नहीं रहती है, उसका मरण समय में उत्तमार्थ मरण कैसे हो?'' (भगवती आराधना ६८३)।

इस भावना से वह मुनिराज आये। अचानक अपने स्वास्थ्य की विपरीतता को देखकर अपने दोषों की आलोचना पूर्वक सल्लेखना की उन्होंने आचार्य विद्यासागरजी से प्रार्थना की। १५ मई, १९७३ ई० को वह समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए।

इधर मुनि ज्ञानसागरजी निरन्तर जागृत रहते हुए निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करते हुए शुद्धोपयोग की विशुद्धि को प्राप्त किए। तप के तेज से उनका शरीर और अधिक देदीप्यमान हो रहा था। प्रतिदिन वह समयसारजी को सुनते थे और जहाँ कहीं पाठ में स्खलन होता था उसी क्षण हाथ की अंगुलि से संकेत कर देते थे। सायंकाल आध्यात्मिक भजनों से दो घण्टे व्यतीत करते हुए रत्नत्रय की आराधना में ही वह हमेशा स्थित थे। २२ मई, १९७३ ई० को निर्यापकाचार्य श्री विद्यासागरजी से उन्होंने तीन प्रकार के आहार का त्याग किया। उस समय तक संघस्थ सभी जन इकट्ठे होकर ही प्रतिक्रमण करते थे।

जिसमें अपने शरीर को अच्छी तरह कृश किया जाता है, जिसमें कलुषता का नाश हो जाता है, जो ममत्व का नाश करती है, संसार का विनाश करने वाली है, ऐसे समकित मरण की आराधना संसार का अन्त चाहने वाले भव्यों को उत्साह के साथ जीवन के अन्त में आगम के कहे हुए विधान से हमेशा करनी चाहिए। संसार समुद्र का तट समीप होने पर महान् व्यक्तियों की ऐसी सल्लेखना होती है। चतुरंग सेना में जैसे राजा नायक रूप से मुख्य माना जाता है, उसी प्रकार चार प्रकार की आराधना में पञ्च नमस्कार मन्त्र नायक होता है। निश्चय से अरिहंत को नमस्कार कर लेने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप सभी मोक्षमार्ग में आराधना को प्राप्त हो जाते हैं।

पाँच परमेष्ठी के उच्चारण में से किसी एक परमेष्ठी का भी समीचीन ध्यान, उनका शब्द और चित्त में उनका नाम सुनना, यह सभी संसार को नाश करने वाला है।

आधि और उपाधि से रहित क्षपक का दर्शन, वैय्यावृत्ति और ध्यान करने वाले मनुष्य का जन्म सार्थक होता है। दूसरे की समाधि को देखने वाला ही वह पुरुष अपनी समाधि की इच्छा कर सकता है, इसलिए हजारों कार्यों में यह कार्य श्रेष्ठ माना गया है। बुद्धिमान् निर्यापक सदा महापुरुषार्थ करने वाले क्षपक के मन को अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर नित्य साधे।

हमेशा काम के वशीभूत होने से राग के कारण मुग्ध व्यक्ति स्त्री में रमण करता है। द्रव्य (धन) के वशीभूत राग के कारण स्वामी सेवक में हर्ष करता है, लोक में सभी लोग अपने अपने सम्बन्धी की स्वार्थवृत्ति के कारण सेवा करते हैं, किन्तु निःस्वार्थभाव से क्षपक के चरणों की जो सेवा करता है, वह साधु यहाँ दुर्लभ है।

श्री भद्रबाहु श्रेष्ठ गुरु की जिस प्रकार की सेवा चन्द्रगुप्त ने की उसी प्रकार से विद्यासागर मुनि ने अपने गुरु की सेवा की। जैनाचार्यों की परम्परा में ऐसा उदाहरण अन्य कोई नहीं मिलता है। श्रीगुरु का वियोग हो जाने पर मैं जीवन पर्यन्त क्या करूँगा? इस महान् पद का दीर्घकाल तक कैसे निर्वाह करूँगा? इस चिन्ता से अवरुद्ध कण्ठ से गुरु के हाथों को पकड़ कर मुनि विद्यासागरजी ने कहा–आपके महाप्रयाण के बाद मेरा क्या होगा? तब गुरुजी ने कहा–''चिन्ता मत करो। अप्रभावना नहीं करना ही प्रभावना है। मन को रोकने (संयमित करने) के लिए जो आता जाए उसे लिखते जाओ। समाज कार्यों में यथा संभव हो भाग न लें। संघ को गुरुकुल बनाना। मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है'' इस प्रकार अमृत से भी अधिक तृप्तिकारक गुरु के वचनों को हृदय में स्थापित करके विद्यासागरजी निश्चिंत हो गए।

भाव शुद्धि से जो जीव निश्छल होकर वृद्ध सेवा करता है, आपत्ति कभी भी उस पुरुष के आगे अपना कदम नहीं रख सकती है। महापूजा से प्राप्त पुण्य के द्वारा भी जो कार्य नहीं होता है, वह सब प्रसन्न हृदय के द्वारा दिये गये आशीष से निश्चित ही हो जाता है। गुरु की आज्ञारूपी आशीर्वाद को चित्त में धारण करके, जो भव्य इस पृथ्वी पर विहार करता है, उससे भय भी डरता है और पद-पद पर सफलता मिलती है।

२८ मई, १९७३ से ग्रीष्मकाल में भी आजीवन जल को छोड़कर निराकुल आत्मसुख का अनुभव करते हुए, एकासन से संस्तर पर एक करवट से लेटे हुए थे। तभी विश्राम के समय भागचन्द्रजी सोनी नाम के श्रेष्ठी श्रावक गुरु महाराज के दर्शन के लिए आये और आशीर्वाद की प्रार्थना की। देह की कृशता के कारण गुरुजी का हाथ नहीं उठा यह देखकर उन्होंने कहा–आप नेत्र खोल दें यही मेरे लिए आशीष होगा। इस प्रकार कहने पर समाधिस्थ क्षपक ने प्रसन्न मुद्रा के साथ नेत्रों से देखा। तब तक निर्जल उपवास और एकासन से लेटे हुए उनके चार दिन व्यतीत हो चुके थे। उसी चौथे दिन श्रावक श्रेष्ठी के चले जाने पर २०३० वि० सं० (१ जून, १९७३) को शुक्रवार के दिन ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को ११:१० मिनट पर नश्वर देह को छोड़कर वह ज्ञानसागर मुनिराज स्वर्ग चले गए।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुदक्षिणा संज्ञक आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

नौवा सर्ग

स्वात्म साधक

उस समय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को श्री सिद्धकूट चैत्यालय की नसियांजी में धर्मवीर रायबहादुर केप्टिन सरसेठ श्री भागचन्द्रजी सोनी संस्थापक के द्वारा विशाल सरस्वती भवन का शुभारम्भ आचार्यदेव के सान्निध्य में किया गया।

१९७४ ई० में संघ सहित होकर भी निःसंग आचार्य विद्यासागरजी अजमेर नगर में आ गए। वहाँ नाकीपुरा में भट्टारकों की अनेक निषिधिकाएँ हैं। उन स्थानों पर एकाकी होकर परम निःस्पृहता को धारण करते हुए, राग-द्वेष से अपनी आत्मा को पृथक् करने के लिए, अपने मन को एकत्वविभक्त भावना से संयुक्त रखते हुए, अपनी आत्मा के लिए हमेशा प्रयत्न करते थे।

लोगों से बातचीत करने पर मन में स्पन्दन होता है, जिससे चित्त में भ्रम उत्पन्न होता है। यह विभ्रम ही महामोह है और यह मोह ही संसार का कारण है। मोह ही महाशत्रु है। इस शत्रु के नाश होने पर आत्मा को सुख होता है। ऐसा मानकर ही महामोक्ष पुरुषार्थ करने वाले पुरुष संसर्ग का त्याग किए हैं।

निर्जन स्थान पर, शून्य स्थान पर, ध्यान की साधना होती है। इसलिए मुनिजन निःशंक होकर वन का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार ध्यान भावना के लिए नगर से दूर जाकर, रात्रि को व्यतीत करके प्रातःकालीन आवश्यक क्रिया को एकान्त में करके, जिनालय के दर्शन करके विशुद्धि मार्ग को बढ़ाते थे। फिर धर्मोपदेश अमृत को नगरवासियों को पिलाकर, आहारचर्या करके मध्याह्न की सामायिक से ध्यान, अध्ययन के विषय में ही समय अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए उपवन को चले जाते थे।

निश्चयनयरूपी मोक्षमार्ग पर तीन गुप्तिरथ पर आरूढ़ हो, मनरूपी घोड़े को आत्मा में लगाकर, वह मोक्षरूपी घर में जाने की इच्छा करते थे।

चित्त में सदा सावधानी रखते हुए, सदा जीवों की रक्षा में तत्पर रहते हुए, समय पर सभी आवश्यकों को करने के लिए, वह अन्य कार्यों में आतुर नहीं होते थे। चौबीस घण्टे तक लगातार एक आसन से उपवास के साथ समीचीन ध्यानरूपी अग्नि को जलाने में वह लीन रहते थे। वह कभी अनशन तप, तो कभी ऊनोदर तप, कभी वृत्तिपरिसंख्यानतप और कभी सभी रसों का त्यागरूप तप धारण करते थे।

आत्मा की रुचि होने के कारण कायक्लेश तप से भी उनका मन खिन्न नहीं होता था। वह आलस रहित होकर अलग से ही सोना और बैठना करते थे। वह मुनिराज अंगुलि चलाए बिना पञ्चनमस्कारमन्त्र का जाप करते हुए बीस जाप (माला) को गिनते हुए चित्त को स्थिर करते थे।

वह निरापेक्ष होकर चित्त की शुद्धि के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए और शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए प्रतिमायोग धारण करते थे। उत्थित-उत्थित रूप से कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट भेद शास्त्र में कहा गया है। उस कायोत्सर्ग को प्राप्त करने के लिए वह इच्छा करते थे। जब तक रात्रि है, तब तक इस उत्कृष्ट कायोत्सर्ग की मुद्रा से निद्रा के दोषों को जीतने के लिए, वह सदा ब्रह्मचर्य की सिद्धि करते थे। जो निर्द्वन्द्व है, वही निरासक्त है, वही अपनी आत्मा में आसक्त है, वही निर्भय है, ऐसे वह आचार्य विद्यासागरजी केकड़ी के बाहर स्थानों पर बनी हुईं कन्दराओं में निवास करते थे।

ब्यावर में आचार्य महाराज ने चित्त सध जाने से शुद्ध भावों की प्राप्ति के लिए निजानुभव शतक लिखा। इधर अप्रैल के महीने में छोटे भाई अनन्त, श्रीमंती माँ और दोनों बहिन शान्ता, सुवर्णा के साथ अजमेर नगरी में आ गए। चलते समय घर में बड़े भाई महावीर ने पूछा कहाँ जा रहे हो? अनन्त ने कहा–कुंभोज बाहुबली तीर्थ पर जा रहा हूँ। दो-तीन दिन बाद पिता मल्लप्पा ने महावीर से कहा–अब लोगों को वापस ले आओ। महावीर नहीं गए, इसलिए दूसरे दिन मल्लप्पा पुत्र शान्तिनाथ के साथ बस की सवारी से चल दिए। अजमेर में सभी लोग मिल गए, फिर सभी मिलकर 'टोंक' ग्राम आ गए। उस स्थान से भी आचार्य विद्यासागरजी ने

विहार कर दिया था। तब पछाला ग्राम में सभी कुटुम्बी जन आ गए। आहार चर्या के बाद उपदेश हुआ। उसके बाद पुत्रियों के साथ माँ ने व्रत के लिए प्रार्थना की। अनन्त को महावीर भैया का डर था, इसलिए उन्होंने व्रत लेने से माँ बहिन को रोका। वहाँ से गुरुदेव ने विहार कर दिया। माँ और दोनों बहिनों ने भी आचार्य देव के साथ विहार किया। दूसरे दिन सवाईमाधोपुर में माँ–बहिनों ने मिलकर चौका लगाया, पड़गाहन कर आहार दिया, तत्पश्चात् आरती करके चौके में ही ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प किया। उस समय अनन्तनाथ फल खरीदने के लिए गए थे। जब वह वापस लोट कर आये, तब देखा कि आहारचर्या पूर्ण हो गई है। मल्लप्पा ने पूछा–कितने समय के लिए व्रत लिया है, तब श्रीमंती ने कहा–जीवनपर्यन्त के लिए। आठ–दश दिन में आचार्यदेव विहार करके महावीर जी तीर्थ पर आ गए। उस समय संघ में स्वरूपानन्द नाम के एक क्षुल्लक महाराज ही थे। वह भी कभी बस से चले जाते थे। कोई भी गृहस्थ श्रावक विहार में नहीं था। एक महीने तक माँ और बहिनों ने आहार विधि को पूर्ण की। महावीर भगवान् के जन्मोत्सव पर महावीरजी में ही आचार्यकल्प श्रुतसागरजी अपने विशाल संघ के साथ आये। उपाध्याय अजितसागरजी, मुनि यतीन्द्रसागरजी आदि अनेक मुनिराज और आर्यिका विशुद्धमति आदि संघ में शोभित हो रहे थे। आचार्य विद्यासागरजी ने विशाल संघ की आगवानी की। समाचार रीति से दोनों आचार्यों का परस्पर में मेल हुआ, पश्चात् शांतिवीरनगर में आचार्यकल्प संघ सहित ठहर गए। एक दिन कजौड़ीमल श्रावक को बुलाकर आचार्य विद्यासागरजी ने कहा–इन माँ और बेटियों को आचार्य श्री धर्मसागरजी के सान्निध्य में ले जाओ। इस प्रकार सुनकर पिता मल्लप्पा ने सोचा–जिन श्रीमंती और पुत्रियों के लिए मुझ मोही ने गृह–त्याग नहीं किया, वे सभी बन्धुजन अपनी इच्छानुसार मुझे छोड़कर जा रहे हैं। पुत्र ने भी अपना भाव छुपा कर रखा और वह भी बिना पूछे यहाँ वैराग्य भाव को प्राप्त हो गया। अब पत्नी और पुत्रियाँ भी व्रत में राग–भाव से संयुक्त हो गयी हैं, मैं ही वस्तुतः ठगा गया हूँ।

पहले इनका पालन–पोषण कर लूँ, फिर मैं वन में जाऊँगा और

कान्तार चर्या का आश्रय लूँगा। मुझे धिक्कार हो, जो ऐसा मैं विचार कर रहा हूँ। मैं मूढ़ बना हुआ हूँ। सभी सम्बन्धी स्वार्थी होते हैं, यह मैंने पुराणों में बहुत बार सुना था, किन्तु आज देख लिया है। भोगों का अनुबन्ध तो मृत्यु को अपना मित्र बनाता है। ऐसे भोगों में मोह मुझ वृद्ध को भी है और इधर युवा अवस्था में योग (भोगों का त्याग) हो रहा है। फिर भी उस स्त्री और पुत्री आदि का कोई दोष नहीं है। यह तो मेरी बुद्धि का दोष है और बुद्धि की ममता है, ऐसा मैं मानता हूँ। चूँकि उनके निमित्त से मैं जागृत हो गया हूँ, इसलिए इस पृथ्वी पर निश्चित रूप में वह स्त्री, पुत्री आदि परमार्थ से मित्र हैं।

आचार्य विद्यासागरजी के चरणों में झुककर मल्लप्पा ने गृह-त्याग के लिए निवेदन किया। आचार्यश्री ने कहा–स्वरूपानंद के साथ आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के पास जाओ। अनन्त आदि भी उनके साथ गए। आचार्यकल्प की संघ में रहने की स्वीकृति पाकर मल्लप्पा संघ में रुक गये। माँ ने अनन्तनाथ और शान्तिनाथ दोनों पुत्रों को कहा, कि यह धन लो और घर पर जाओ। दोनों पुत्र घर जाने के लिए तैयार हो गए इसलिए गुरुचरण के समीप आये और कहा–''हम लोग घर जा रहे हैं।'' तब आचार्य देव ने कहा–''वह खेत, वह घर मेरा है, इस प्रकार मेरा-तेरा करते हुए कितने ही लोग चले गए और फिर भी खेत और घर तो वही है।'' मैं भी पहले वैसी ही भावना करता था। उन खेत और घर को छोड़कर, आत्मकल्याण की इच्छा करो, जिससे मेरे समान तुम लोगों का जीवन भी सुन्दर बन जाए, इसलिए आत्म-कल्याण करो। तब दोनों भ्राताओं ने पूछा–वह आत्म-कल्याण कैसे हो? आचार्यदेव ने कहा–ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करो। आपस में दोनों भाइयों ने विचार करके व्रत स्वीकार कर लिया। संसार के ताप से तप्त हृदय रूपी लोह पिण्ड पर उपदेश रूपी अमृत का मानों सिंचन हो गया। पिता ने कहा–''अपनी इच्छा से और अपने उत्साह से बुद्धिपूर्वक करना बाद में मेरे पीछे रोते हुए मत आना।''

उसी समय नारियल फल लाकर गुरु चरणों में समर्पण करके दोनों भाई संकल्पित हो गए। दूसरे दिन भेष (ड्रेस) बदल गई और पूरे शिर का

मुण्डन हुआ। उस समय वह किसी अन्य शिशु की शोभा को धारण कर रहे थे। ब्राह्मण बटुक ब्रह्मचारी की तरह वह ऊँचे स्वर से तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ते थे और छोटे तोते की तरह दोनों पंचास्तिकाय की गाथा को रटते थे। जब समय बचता था, तो कातन्त्र व्याकरण और नाममाला के पाठ का उच्चारण करते थे। स्वयं ही चौके में भोजन बनाकर गुरु को और अन्य तपस्वियों को भोजन दान करते थे। धोती बनियान वस्त्रों को धारण करते थे। एक बार कभी केशलोंच की पारणा के लिए गुरुदेव का आगमन हुआ। उनके कर पात्र में असावधानी से शान्तिनाथ के द्वारा दिए आहार में केश आ जाने से गुरुदेव ने अन्तराय किया। इस प्रकार गुरुदेव के समीप महावीरजी में दोनों भाई लगभग एक माह तक रहे।

भो! कहाँ तो संसार-समुद्र की तरंगें और कहाँ यह श्रेष्ठ धर्म की नौका। कहाँ तो विष और अग्नि के समान विषयों में कष्ट और कहाँ शान्त योग साधना। कहाँ तो इस शरीर की विषमता और कहाँ चेतना में चैतन्य की समानता। इस प्रकार संसार, भोग और शरीर इन तीनों असार वस्तुओं में मोक्षमार्ग से बहुत भिन्नता है। गुरु के विषय में चर्चा, परिचर्या, पूजा अथवा परिचय जो महाभाग्यवान करते हैं, उनका ही जन्म यहाँ पूजित है।

उन भाइयों आदि संघस्थ लोगों का आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के संघ में भी गमनागमन चलता रहता है। वास्तव में संघ के मेल-जोल से बुद्धि की पटुता और हृदय में आनन्द बढ़ता है। संकेत के बिना आचार्यश्री ने विहार किया और हिण्डौन, विथाना, उच्चैन के रास्ते से विहार हुआ। जंगल में नए-नए ब्रह्मचारियों द्वारा आहार विधि सम्पादित हुई। तदुपरान्त आचार्यश्री बीस दिन भरतपुर में रहे।

दशलक्षण-धर्म

यदि हृदय में दोष रहते हैं तो दूसरों को देशना देने से क्या होगा? और मैं किसका उपकार करने के लिए उद्यत हो पाऊँगा? ऐसा विचार करके उन समस्त दोषों को नाश करने के लिए और सबसे पहले अपने ही आत्म दोषों का निवारण करने के लिए मैं प्रयत्न करता हूँ।

मासोपवास करना, पर्वत के शिखर पर निवास करना, आतापन तप

आदि करना, मौन धारण करना यह सब भले ही होवे किन्तु दुष्टों के वचन सुन करके जो रोष धारण करता है उसके लिए सभी कुछ वशिष्ट मुनि के समान निष्फल हो जाता है। ऐसा हे आत्मन! तू जान। जो कायर जीव किसी कारण से क्रोध को विचार करके करता है उसके लिए तो वह क्रोध करना उचित हो किन्तु तुम साधु के लिए क्रोध करना उचित नहीं है क्योंकि कर्म ही हमारे क्रोध का कारण है ऐसा जानकर उस कर्म को जीतने के लिए मैंने साधु का वेश धारण किया है इसलिए अब मुझे कोप के वशीभूत होने से क्या? भो! प्रतिक्षण प्रतिकूलता को प्राप्त करके इस मन में क्रोधाग्नि जलने लगती है। मेरी आत्मा में यह कर्म स्वयं किया हुआ तथा अज्ञान से अर्जित है। शम, दम और क्षमा से मैं इस क्रोधाग्नि को वश में लाता हूँ।

अहो! मैं निज आत्मबोध से उत्पन्न अत्यन्त शीतल तथा जिनेन्द्र भगवान् के वाक्यरूपी नयों से, मधुर शमामृत रस के मिश्रण से उत्कृष्टता को प्राप्त इस उत्कृष्ट तेज धाम रूपी रसना को मैं पी रहा हूँ। रूप, कुल, धन, तपस्या और बुद्धि में हीन जनों में गर्व को धारण करके मानी व्यक्ति मान करता है। किन्तु जो यह जानता है कि यह हीन-अधिकपना केवल कर्म के योग से होता है ऐसा वह ज्ञानी इन क्षणभंगुर रूप कुल आदि में कैसे आसक्त हो सकता है ? जिसने इस लोक में पहले भी मद किया है वह भरत चक्रवर्ती के समान होकर भी व्यर्थ में चित्त में ताप को प्राप्त किया है और जो अपने से ज्येष्ठ है, बड़ा है वह सदा वैसा ही एकरूप नहीं रहता है ऐसा जानकर गर्व करना व्यर्थ है। इस प्रकार मैं मार्दवता को प्राप्त होता हूँ।

यदि मेरे द्वारा किया हुआ मान भाव जगत् में हमेशा बना रहता तो मुझे यह बताओ कि जगत् में कौन विभु अर्थात् सदा अपना भाव बनाये रखने वाला रहा है। यदि नहीं है तो मार्दव धर्म की उपासना करना चाहिए जो कि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ है और अपना हित करने वाला है।

जिसका हृदय माया से अनुबद्ध है वह जगत् के समक्ष मैं धर्मी हूँ, मैं महाव्रतधारी हूँ, मैं तपस्वी हूँ इत्यादि कांक्षित मन वाला होकर सभी धर्म तप आदि का पालन करता है ऐसा जीव वास्तव में तीन लोक की वंचना में तत्पर हुआ क्या अपनी आत्मा का घात करने वाला नहीं है?

मायावी जीव परमार्थ तत्त्व का चिंतन नहीं करता है और उस परमार्थ तत्त्व के लिए तप नहीं करता है किन्तु परमार्थ तत्त्व के बिना ही सुख की प्राप्ति कर रहा है, फिर भी वह दूसरों के लिए ज्ञान देता है किन्तु स्वयं आत्मबोध से शून्य रहता है ऐसा जीव मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुआ दुर्बुद्धि ही रहता है। माया शल्य को धारण करने वाले मनुष्य सदा पर भव में स्त्री के भव को धारण करने वाले होते हैं तथा वे जीव पशु गति में भी बहुत दुखों को प्राप्त करके प्रत्येक भव में माया कर्म प्रकृति की ही व्यथा को भोगते रहते हैं। आहार मैथुन परिग्रह की लालसा के द्वारा परलोक में क्या होगा? तथा इस लोक में भी जो आकांक्षा एवं भय से सहित हृदय वाला बना रहता है उसके चित्त शुद्धि नहीं होती है। अतः मैं भय और काम इन दोनों ही अप्रशस्त भावों का विनाश करता हूँ।

परमार्थ सुख का लक्ष्य धारण करके संसार शरीर रति और भोगों से उत्पन्न होने वाली अन्य समस्त कांक्षा का विनाश करके संसार सागर में डूबने की भीति से जो भयभीत है वह सात भयों को छेदता हुआ शौच धर्म वाला होता है। समस्त लोभ कषाय के दूर हो जाने पर, निर्मल बोधकला के प्रकट हो जाने पर, निजात्मा की शुचि की प्रभा इस आत्मा में प्रकट होती है। अपनी आत्मा के शौच धर्म की प्रभा में काम और भय नहीं होता है तथा वह चंद्रमा के समान निर्मल होती है।

सत्य, परमित और श्रुत के अर्थ के बताने वाले वचनों को जा कहता है तथा जो अपनी आत्मप्रशंसा नहीं करता है, निन्दात्मक वचनों को भी नहीं बोलता है और न किसी को शाप देता है उसके हृदय में सत्य धर्म होने से उसके ही वचन सत्य हैं। असत्य के अंधकार में भी सत्य की सदा विजय होती है जैसे कि देवों में अरिहंत देव ही हैं चाहे अन्य मतों का कितना भी अधिकार क्यों न बना रहे। इसी प्रकार पाँच अस्तिकाय रूप संसार का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीन चिन्हों के द्वारा परिणमन होता है, उसी प्रकार अपनी आत्मा का परिणमन होता है। जगत् में इस प्रकार के सत्य को जानना ही सत्य की प्रतीति है।

इस संसार में मोह से रहित मन वाला जीव ही अहो! शाश्वत सत्य

को देखता है उसी के वचन सत्य वचन होते हैं। इस प्रकार सत्य धर्म को हृदय में और वचनों में धारण करना चाहिए। भव आदि से उत्पन्न होने वाले संसारों में अर्थात् पंच परावर्तन रूप संसार में जो पंचेन्द्रिय के निग्रह में तत्पर है, महाव्रतरूपी यम को धारण करने वाला है, प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम में श्रेष्ठ प्रयत्न करने वाला है तथा कषायों को जीतने वाला है और जो सामायिक में निरत रहता है वह महा संयम धर्म वाला है। उसी महान् संयम धर्म को मैं धारण करता हूँ।

शीत-उष्ण-ग्रीष्म इन तीनों कालों में जो उष्ण जल पीता है तथा शीत-उष्ण भोजन करने में भी जो समशील चित्त वाला है, फलों को सदा अग्नि के द्वारा पक्व ही खाता है, वह धीर सदा संयम धर्म को धारण करने वाला प्रकृष्ट चरित्र को धारण करता है। हाथ-पैर-शरीर का मुंडन, वचन और चित्त के विकल्प का नाश करना और पाँच इन्द्रिय का निरोध करना ये दश मुंडन बहुत ही दुष्कर हैं। संयमी इन दश यमों को धारण करता है।

काय के उपताप को सहन करने के योग्य तप क्रियाओं में सहसा उद्यत हो अथवा न हो किन्तु कर्म कृत और दूसरों के द्वारा दी जाने वाली बाधाओं के आ जाने पर प्रशांत मन से उन्हें सहन कर लेना ही वह श्रेष्ठ तप माना गया है। इच्छाओं का निरोध करना तप का चिह्न है। प्रायः शरीर और मन के लिए जो सहनीय है ही तप इष्ट कहा गया है। जो तप संयम से सहित है तथा परमार्थ से युक्त है वही शास्त्र में कहा हुआ श्रेष्ठ तप प्रशंसनीय है।

जैसे सरोवर में कीचड़ को सुखाने के लिए सूर्य होता है, स्वर्ण को शुद्धि करने वाली आग होती है, वृक्ष को फल प्रदान करने वाला उत्कृष्ट ताप होता है, उसी प्रकार से चेतना में शुद्धि करने वाला श्रेष्ठ सु-तप होता है। अर्जित किये हुए धन का दान करने से, इस पृथ्वी पर जिनालयों का, श्री जैन बिम्बों का, शिखरों का, ध्वजा का और साधुओं के आलयों का जो गृहस्थ बुद्धिमान् जीव धर्म वृद्धि के कारण से निर्माण कराते हैं वह गृहस्थ ही वास्तव में बुद्धिमानों के द्वारा प्रशंसनीय माने गये हैं।

धन के त्याग से जिन धर्म की प्रभावना होती है। आहार दान करने

से ही मुनियों की स्थिति बनती है। मुनियों के होने पर ही मोक्षमार्ग है तथा उन मुनियों के होने पर ही धर्म होता है। इसलिए यह त्याग धर्म गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए महान् माना गया है। सीप और सर्प के मुख में गया हुआ जल जिस प्रकार से दो भागों में विभक्त हो जाता है अर्थात् सीप को प्राप्त हुआ जल मोती ही बन जाता है और सर्प के मुख को प्राप्त हुआ जल विष बन जाता है उसी प्रकार से पात्र और कुपात्र के हाथ पर गया हुआ दान अमृत तथा कूट विष से युक्त फल वाला हो जाता है।

जिस प्रकार जंगली हाथी अपनी इच्छा से विहार करता है और भोजन करता है उसी प्रकार से जो परिग्रह के कारण से परवश में नहीं रहते हुए मुनि स्वेच्छा विहार और स्वेच्छा अशन करते हैं तथा रागादि भाव को भी आत्महित के लिए जब तक नहीं मानते हैं तब तक उनको दुख लेश मात्र भी नहीं होता है। अर्थात् आकिंचन धर्म के कारण उनको दुख नहीं होता है। मुनि के आकिंचन धर्म की महिमा महान् है। इस संसार में अपने निज आत्म के आस्वादन से उसे गुरुपने की अनुभूति भी होती है। जिस अनुभूति के बल से आत्मा में लघुता तथा निष्कलंकता आती है। जैसे आकाश में कीचड़ से रहित पंख वाला पक्षी उड़ता है वैसे ही वह भी अपनी आत्म आकाश में उड़ानें भरता है। स्व का भाव समता है और वही निजधन माना गया है। पर का भाव ममता है वह परधन है, वह व्यथा है अर्थात् दुख है। इस प्रकार जानकर कर्म से उत्पन्न होने वाले सभी पर-धन को और उन कर्मों को छोड़कर अकिंचन धर्म में तुम हे आत्मन्! रति करो।

शरीर मांस, अस्थि और दुर्गंधित अशुचि पदार्थों से भरा है। अतिसूक्ष्म चर्म से आवृत है इसलिए यह मनोहर प्रतीत होता है। मोह के कारण से अनादिकाल से चले आये कुज्ञान के बल से ही मोही जीव को यह शरीर मनोहर प्रतीत होता है किन्तु जिसे अपनी अचल चैतन्य धातु मनोहर प्रतीत होती है वही ब्रह्मचारी है। मनोहर स्त्रियों के शरीर को देख करके उस काम के वेग से उन्हें पुनः देखने की जो इच्छा नहीं करता है तथा जो दर्शन-ज्ञान से प्रकाशमान अपनी ब्रह्म आत्मा में ही नित्य रमण करता है उसी का वह परम ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

जिस यति ने काम कषाय रूपी शत्रु को शांत कर दिया है। यदि वह स्त्री को देखता भी है तो उसे तीन प्रकार की स्त्री मानता है–बहिन, पुत्री और माँ के सदृश। ऐसे उस ब्रह्मचारी यति की चरणधूलि सदा मुझे पवित्र करे। वहाँ सदलगा में बड़े भाई महावीर अकेले थे और इष्ट बन्धुओं के वियोग से वह खिन्न थे। महावीर को कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा, तो उन्होंने श्री धर्मसागरजी आचार्य के संघ में एक समाचार 'तार' से भेजा कि ''महावीर की मृत्यु हो गई है''। आचार्यश्री ने माँ और दोनों पुत्रियों को घर जाने के लिए आज्ञा प्रदान की। वह माँ और बेटियाँ व्याकुल होती हुई भरतपुर आ गई। भरतपुर में आचार्यश्री विद्यासागर जी ने यह समाचार सुनने के साथ मन्द–मन्द हँसते हुए कहा कि–यह सब नाटक है। थोड़ा विचार करके फिर कहा कि यदि आप लोगों के मन में भय है, तो आचार्य श्री श्रुतसागरजी के पास चले जाना चाहिए, इस प्रकार सुनकर सभी लोग वहाँ के लिए प्रस्थान किए। रास्ते में मल्लप्पा मिल गए। फिर सभी लोग श्रुतसागरजी के निकट पहुँचे और उन सभी को आदेश मिला कि जैसी आचार्य श्री धर्मसागरजी ने आज्ञा दी है वैसा ही करना चाहिए। आपके गुरु आचार्य श्री विद्यासागरजी तो बारहवें गुणस्थान के वीतरागी हैं, मैं तो छठवें–सातवें गुणस्थान का हूँ। इस प्रकार सुनकर शान्तिनाथ को आचार्य श्री विद्यासागर जी के पास छोड़कर पाँचों ही सदस्य घर आये। वहाँ द्वार पर ताला लगा देखकर वे लोग आश्वस्त हो गए थे, कि कुछ नहीं हुआ, महावीर ताला लगाकर कहीं गए हैं। फिर भी मल्लप्पा ने सोचा कि पता नहीं महावीर कब आयेगा और न जाने कहाँ गया है, यह सोचकर मल्लप्पा की आज्ञा से ताला तोड़ कर सभी लोगों ने घर में प्रवेश किया। उसके बाद लगभग अढाई महीने तक सभी लोग घर में रहे।

इधर साम्य मन में विशिष्ट जनों से शून्य समस्त क्षेत्रों पर आचार्य देव विहार करते थे। उनकी आकांक्षा मात्र आत्मा के परिचय के लिए थी। राग से रहित वह आचार्य लोक के आदर से निराकांक्ष थे। भरतपुर से जाकर वह गोवर्धन आये, फिर कुम्हेर ग्राम में आकर शान्तिनाथ को आदर के साथ बुलाकर सात प्रतिमा के व्रत प्रदान किए। वहाँ से मथुरा आये।

फिर मथुरा से वापस लौटकर वह आगरा गए। एत्मादपुर आये और फिर टूंडला आये। इसके बाद सुहागनगरी फिरोजाबाद में आकर जैन नगर में ठहर गए। यहीं पर १५ अगस्त, १९७५ के दिन महावीर, माँ-बहिन के साथ छोटे भाई अनन्त को लेकर आये। यहाँ पर वर्षायोग सम्पन्न हुआ। वहाँ पर आचार्यश्री ने आज्ञा दी कि सहारनपुर में आचार्य श्री धर्मसागर जी का वर्षायोग चल रहा है, उन्हीं के पास जाओ। आज्ञा के वशीभूत होने से महावीर माँ और दोनों बहिनों के साथ वहाँ गए और फिर उन्हें संघ में रखकर स्वयं घर चले गए। बाद में मल्लप्पा भी उसी संघ में आ गए। वर्षायोग के बाद आचार्य देव विहार करते हुए पुनः टूंडला आ गए। उधर आचार्य धर्मसागरजी ने मल्लप्पा को आज्ञा दी कि आप परिवार सहित पहले यात्रा कर आयें। मल्लप्पा इस आज्ञा धन को लेकर टूंडला आये। आचार्यदेव टूंडला से विहार करके आगरा नगर आये। आगरा आने पर अनन्त ने ताजमहल को देखने के लिए पूछा। गुरुजी ने कहा 'देखो' अनन्त कुछ आश्वस्त हुए। इधर आचार्य देव ने वहाँ से स्वयं विहार कर दिया। राजाखेड़ा आ गए और अनन्त की इच्छा पूरी न हो पाई। दो-तीन दिन वहाँ बिताकर मछरिया होते हुए धौलपुर आ गए। वहाँ सात प्रतिमा के व्रत अनन्त ने ग्रहण किए, जिससे उनका हृदय प्रसन्न हो गया। वहाँ से मुरैना नगर आये दो तीन दिन रुके। पं० मक्खनलालजी के साथ चर्चा सुखपूर्वक हुई। वहाँ से ग्वालियर नगर में आना हुआ।

पेट की तृष्णा क्षुधा मानी गई है और मन की तृष्णा लाभ आदि पूजा की इच्छा है। यह दोनों तृष्णाएँ जिनकी अच्छी तरह नष्ट हो गई हैं, वे ही पृथ्वी पर देवता हैं और देवों से पूज्य हैं। जो भोजन के विषय में अपेक्षा रहित हैं, वह देह से निरापेक्षी हैं। जो देह से निरापेक्ष हैं, वह सभी वस्तुओं में निरापेक्षी है। जो लोग मन के अनुकूल, मन को मिष्ट लगने वाले अपनी इच्छानुसार अन्न-पान को खाते हैं और जो वाहन के अच्छी तरह अधिकारी बने हैं, वह श्रेष्ठ आचारमार्ग का पृथ्वी पर उल्लंघन करते हैं।

इस प्रकार ग्वालियर में आये संघ की परिचर्या के लिए कोई भी श्रावक नहीं आया। आचार्यदेव विहार करके कुछ देर से पहुँचे। सामायिक

का समय निकट होने से वह सामायिक काल के लिए बैठ गए। तब तक कुछ लोग आ गए। बाद में कुछ लोगों ने ब्रह्मचारीजी के साथ बातचीत की और वे लोग आश्चर्य सहित होकर कहने लगे–''ऐसा कौन–सा आचार्य होगा, जो अपने पास में वाहन, चूल्हा–चौका, नौकर आदि नहीं रखता हो। जब उनके पास नागरिकों ने कुछ भी नहीं देखा, तो शीघ्र ही आहार विधि पूर्ण की, फिर उपदेश हुए। आचार्यदेव ने पाँच दिनों में पञ्च महाव्रतों का उपदेश दिया। उपदेशामृत को पीकर नगरवासी जनों के हृदय में हर्ष उत्पन्न हुआ और उनके शरीर व मन आनन्द से पुलकित हुए। जपाजी चौराहे पर गौरखी प्रांगण में जिलाधीश कार्यालय के पास सभी जनों को धर्म लाभ के उद्देश्य से प्रवचन हुए। वहाँ बहुसंख्यक लोगों ने लाभ लिया।

प्रातः ८ बजे नगर से एक मील दूर पर्वत से उतरकर प्रवचन करके आहारचर्या के उपरान्त आचार्य गुरुदेव वहीं पर्वत पर आ जाते थे। धर्मध्यान के साथ दिन–रात व्यतीत करके आत्मतेज को प्रकट करने के लिए वह एकान्त में रुकते थे। समाज के लोगों ने प्रार्थना की, कि भगवन्! मध्याह्न में महिलाओं को धर्म लाभ हो, इसलिए नगर में चलना चाहिए। उनका यहाँ आना तो दूर स्थान होने से कष्ट कर होगा। तब श्री गुरु ने कहा–मैंने अपने आत्म–कल्याण के लिए मुख्य रूप से दीक्षा ग्रहण की है। उसी के लिए मेरा प्रयास रहता है। अन्य कार्यों से मेरी निवृत्ति है। दूसरों के लिए प्रवृत्ति समय–समय पर गुणकारी होती है। इसी कारण से प्रातः जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की देशना नित्य चल ही रही है। सुबह के उपदेशों का ही मनन करना चाहिए। अच्छी तरह स्वयं ही शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, उसी से आत्मा में शुद्धता आती है।

वहीं पर कजौड़ीमल श्रावक को बुलाया गया। डबरा होते हुए आचार्यदेव सोनागिरि पहुँचे। सिद्धक्षेत्र की वन्दना से सबके मन में विशुद्धि बढ़ी। तभी १८.१२.१९७५ को श्री बाहुबली स्वामी की चरण छाया में भूपाल, महावीर, अनन्त, शान्तिनाथ ब्रह्मचारियों को जो कि सबसे प्रथम दीक्षार्थी थे, उन सभी को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के बाद उनके नाम क्षु० प्रवचनसागरजी, नियमसागरजी, योगसागरजी और समयसागरजी

क्रमशः रखा गया। तब तक यात्रा के आदेश को पूरा करके मल्लप्पा सपरिवार संघ में लौटकर आ गए। १९७६ ई० में बसन्त पंचमी के दिन आचार्य धर्मसागरजी ने मल्लप्पा, श्रीमंती, शांता, सुवर्णा को अन्य और दीक्षार्थियों के साथ दीक्षा प्रदान की। उनका नाम क्रमशः रखा गया मुनि श्री मल्लिसागरजी आर्यिका श्री समयमतिजी, श्री नियममतिजी और श्री प्रवचनमतिजी। दीक्षा के उपरान्त मल्लिसागरजी ने पूछा–गुरुदेव! आहार में क्या-क्या छोड़ना चाहिए? मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। कहीं मैंने सब कुछ खा लिया तो फिर क्या होगा? ऐसा सुनकर के गुरुदेव हँसने लगे। उन्होंने कहा–कुछ भी नहीं छोड़ना है, अभी तो आप नव दीक्षित हैं इसलिए जो दिया जाय वह ग्रहण कर लेना। फिर भी मल्लिसागरजी ने कहा–किसी रस को छोड़ करके मैं आहार ग्रहण करूँगा। इस तरह उन्होंने हठ धारण की। गुरु ने कुछ मुस्कान के साथ कहा–आठ दिन के लिए नमक छोड़ दो। नमोऽस्तु कह करके उन्होंने बिना नमक का भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन श्रावक ने लवण मिश्रित भोजन दे दिया, तो वह मुनिराज अन्तराय करके आ गए। प्रत्याख्यान के समय पर गुरु ने कहा–नमक का त्याग तो आठ दिन के लिए था, अब तो दो महीने हो गये हैं। मल्लिसागरजी ने कहा–मेरा तो आजीवन के लिए प्रत्याख्यान है। आचार्य धर्मसागरजी ने सभी के बीच में सभा में उनके साहस की प्रशंसा की। वह फलों में केवल केला ग्रहण करते थे। सत्य ही है–''जो कर्मक्षेत्र में सूर होते हैं वे नियम से धर्मक्षेत्र में भी सूर होते हैं। इन्द्रिय के भोगों को छोड़ने के लिए जो लगे हैं उन्हें सूर जानना चाहिए। ज्ञानपूर्वक आचरण और जीवन के अन्त तक प्रत्याख्यान जिनका होता है, उनका विषयों में राग नहीं होता है, वे वास्तव में ज्ञानवान हैं।''

एक बार की बात है–१९८० ई० में जयपुर निवासी नानूलाल राजकुमार जैन श्रावक ने एक शास्त्र मुनि मल्लिसागरजी के करकमलों में समर्पित किया। मुनिराज ने पूछा–शास्त्र का क्या नाम है? श्रावक के कहा–पं० टोडरमल का मोक्षमार्ग प्रकाशक है। मुनिराज ने कहा–पं० लोग वस्त्र में क्या मोक्षमार्ग दिखायेंगे। वस्त्रों को छोड़कर मोक्षमार्ग दिखाना चाहिए। मैं

तो केवल आचार्य प्रणीत शास्त्रों को पढ़ता हूँ। निर्भीकता से स्पष्ट स्वर से उनकी वचन प्रणाली इसी प्रकार सदा रहती थी। सत्य ही है–"क्रोध से, लोभ से, भीरूता से, हास्य से रहित जो वचन हैं, उनको जो बोलता है, वह श्रमण वास्तव में सत्यभाषी होता है। आचार्यों के द्वारा कहे हुए शास्त्रों को, जो तीनों कालों में पढ़ता है और सुनता है, वह सम्यग्ज्ञानी जीव वास्तव में एकान्ताग्रह से दूर स्थित होता है।" श्रावक ने पुनः कहा–महाराज! यह जयपुर है। श्रावकों के अभिप्राय को देखकर के मुनिराज ने कहा–मैं भी दिल्ली नगरी से आया हूँ। इस प्रकार उत्तर सुनकर के वह श्रावक मुनिराज के प्रति बहुत समर्पित हो गया। उसके बाद दतिया, झाँसी, बवीना, पवाजी क्षेत्र की यात्रा करते हुए बुंदेलखण्ड के द्वार रूप तालबेहट ग्राम में प्रवेश किया। वहाँ आचार्यदेव ससंघ लोगों के लिए द्रव्य-संग्रह ग्रन्थ का अध्यापन कराते और नाममाला को कण्ठस्थ कराते थे। एक बार वह जिनालय में बैठे थे, कि उन्होंने देखा एक बालक काँटे कड़ा सहित बालटी, गगरी, डोरी, छन्ना और थाली की सहायता से पानी छान रहा है। अनछना जल नीचे न गिर जाये इस पाप के भय से उसने थाली में गगरी रखकर जल छाना।

सत्य ही है–देवाधिदेव का दर्शन करना, रात्रि में भोजन नहीं करना और वस्त्र से गालित (छना हुआ) जल पीना श्रावक की धर्म में रति दिखाता है। जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन में राग, रात्रिभोजन में अनासक्ति होना और वस्त्र से छना हुआ जल पीना, इनसे ही दयाधर्म देखा जाता है। जिनेन्द्र भगवान् का धर्म दया प्रधान है, जिनेन्द्र भगवान् के भक्त का चित्त भी दया से विशुद्ध होता है और जो जिनरूप है, वह भी दया की एक मूर्ति है। इस तरह धर्म का मूल श्रेष्ठ दया में ही निबद्ध है।

अहिंसा परम धर्म है। वह धर्म दया से युक्त है। छहकाय के जीवों की रक्षा यथायोग्य करना ही दया मानी गई है। इस प्रकार देखकर "धर्म यहाँ प्रतिष्ठित है" श्रीगुरु ने विचार करके बुंदेलखण्ड क्षेत्र में प्रवेश किया।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला स्वात्मसाधक संज्ञक नौवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

दशवाँ सर्ग

विद्वानों द्वारा पूज्य

विरक्त होकर के भी जो दिगम्बर मुक्तिरूपी रमणी में रत हैं, सुख-दुख में समान होते हुए पावक की तरह नहीं हैं किन्तु पावक (पवित्र) हैं अर्थात् जैसे अग्नि सभी को समान रूप से जला देती है वैसे सबके लिए समान रूप से नष्ट करने वाले नहीं हैं।

मतिज्ञानरूपी धनुष पर जो भाव श्रुतज्ञान को रत्नत्रयरूपी तीन वाणों से खींचकर मुक्ति के लक्ष्य को साधते हैं। रागादि दुष्ट शत्रुओं के द्वारा चेतना में चारों ओर से घिरे हुए होकर भी जो थोड़ा भी अपने लक्ष्य से चलायमान नहीं हुए उस योद्धा की पहचान कैसे की जाये?

सन् १९७४ ई० में आचार्यदेव का अजमेर में वर्षायोग था। उस समय उनके द्वारा श्रमणजनों के प्रबोधन के लिए और अपनी श्रमणता के संवेदन के लिए एक 'श्रमणशतकम्' नामक कृति रची गयी। बहुत से श्रावक उनके दर्शन, उपदेश और आहारदान से अपनी आयु को कृतकृत्य मानते थे। वहाँ एक विद्वान् श्रावक 'मूलचन्द्रलुहाड़िया' भी उनकी कठोर साधनापद्धति से प्रभावित हुए। वह निश्चित रूप से चाहते थे, कि ऐसे आचार्यदेव का प्रभाव संसार में फैले। आज जो विद्वान् इस काल में मुनि नहीं होते हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं, उन्हें उनके दर्शन से अपनी धारणा बदलकर गुरुजनों का आराधक होना चाहिए। इस कारण से उन विद्वान् ने विद्वान्-वर्ग में उनके सम्यग्ज्ञान की कृति को दिखाकर तथा उनके सम्यक्चारित्र की निरीहवृत्ति के व्यापक वर्णन के द्वारा चर्चा की, फिर भी उनके मन में संतोष उत्पन्न न हुआ।

उस प्रेरणा से प्रेरित विद्वानों में अग्रज कटनी नगर के निवासी जगन्मोहनलाल (नाम से प्रसिद्ध) किसी तरह तीन दिवस के लिए आये। दूर से ही उनके क्रिया विधान को देखते हुए, वह अत्यन्त संतुष्ट हुए। वह श्रावक विद्वान् भी पहले निश्चयनय मतावलम्बी थे। उत्तरापथ में आये हुए आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज एक बार कटनी पधारे, तब वह उनके

चारित्र की सम्यक् परीक्षा करके उनके भक्त हो गए। वह ही विद्वानों में अग्रणी शीघ्र ही श्री विद्यासागरजी से प्रभावित हुए। जो तीन दिवस के लिए आये थे, वह तीन मास वहाँ रुके। उनके सम्यग्ज्ञान और चारित्र से आकर्षित हो उन्होंने श्रमणशतक में प्रशंसा वाक्यों का उल्लेख किया। हाँ ब्रह्मानन्द शर्मा ने उस ग्रन्थ के प्राक्कथन में भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनकी कृति का समालोचन करके एक ब्राह्मण प्रभाकरशास्त्री उनके दर्शन के लिए आये। उन्होंने कहा–''देव! आपकी कृति को देखकर हृदय में बहुत आनन्द उत्पन्न हुआ, कि इस समय में भी देववाणी में ग्रन्थ के सृष्टा है। फिर भी वहाँ प्रयुक्त बहुत से शब्द क्लिष्ट अर्थ के वाची हैं, मेरे द्वारा पहले किसी शब्दकोश में नहीं देखे गए। उसका कारण कहिए। तब आचार्य देव बोले–भो! आपने सत्य कहा, क्योंकि इसमें दूसरे कोश का प्रयोग किया है।

जैन साहित्य में 'विश्वलोचन शब्दकोश' एक अपूर्व शब्दकोश है। उसके प्रयोग से ही ऐसी क्लिष्टता आयी है। अजमेर नगर के महाराजा-महाविद्यालय में वह प्रभाकरशास्त्री संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और प्रवक्ता थे। उनके करकमलों से ही श्रमणशतक ग्रन्थ का प्रथम विमोचन हुआ। विमोचन के बाद सभा के सम्मुख उनका वक्तव्य भी हुआ। उस वक्तव्य में उन्होंने कहा–''मुझे अध्यापन कार्य में संलग्न हुए चालीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस काल में बहुत से शास्त्र मेरे द्वारा पढ़े और पढ़ाए गये। फिर भी श्रमणशतक ग्रन्थ के पढ़ने के बाद मेरे हृदय में एक भावना उत्पन्न हुई, कि इन युवा साधु के समीप मुझे अवश्य ही संस्कृत पढ़ना चाहिए।''

निःसन्देह वरिष्ठ प्रवक्ता के वक्तव्य में ऐसे वचन उनके हृदय की निश्छलता को व्यक्त करते हैं। इससे न केवल ग्रन्थ का गौरव, अपितु ग्रन्थ के कर्त्ता का भी गौरव उन्होंने प्रकट किया। उस अवसर पर पं॰ जगन्मोहन-लाल शास्त्री भी विमोचन के बाद भाषण के लिए उपस्थित हुए। संस्कृत के छन्द को पढ़कर अर्थ करने के लिए तैयार हुए, किन्तु असमर्थ हो गए। यदि मातृभाषा में नीचे अर्थ उल्लिखित न होता, तो विद्वानों के समक्ष हास्य का पात्र बनता ऐसा बाद में उन विद्वान् का कहना था।

वर्षायोग समाप्त होने पर अष्टाह्निक पर्व में मदनगंज-किशनगढ़ नगर में तीन घंटे के लिए अन्य दो विद्वान् कैलाशचन्द्र शास्त्री और दरबारीलाल कोठिया दर्शन के लिए आये। वे दोनों सहज ही नहीं आये अपितु निरन्तर बहुत प्रयास के द्वारा आये। प्रयास के लिए यत्न पं० लुहाड़ियाजी ने ही किया। एक बार दिल्ली नगर में किसी अधिवेशन में वे दोनों आये थे। यह समाचार सुनकर पं० लुहाड़ियाजी ने एक जन को वहाँ भेजा। उसने वहाँ जाकर निवेदन किया। अति आग्रह के द्वारा कैसे भी वे दोनों आगमन के लिए तैयार हो गए। "दर्शन करके हम दोनों शीघ्र ही प्रस्थान करेंगे।" ऐसी प्रतिज्ञा में निबद्ध होकर वे दोनों उस सज्जन के साथ आये। आचार्य भगवन् के दर्शन मात्र से की हुई प्रतिज्ञा को भूलकर वे दोनों निराग्रह हो गए जैसे भगवान् वर्धमान स्वामी के दर्शन से इन्द्रभूति हो गए थे। उनकी चर्या से प्रभावित होकर वे दोनों तीन दिन वहाँ अच्छी तरह से रुके।

स्थानीय जनों के द्वारा सिद्धान्त शास्त्री पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री से पर्व के दिनों में उपदेश के लिए प्रार्थना की गयी। शाम को पण्डितवर्य के उपदेश होते थे। उसको सुनकर दूसरे दिन प्रातःकाल की सभा में आचार्यदेव की दिव्य देशना होती थी। वह विद्वान् उपदेशामृत को सुनकर प्रसन्न होकर जिज्ञासा का समाधान करते थे। जाते समय वह बोले–"आचार्यदेव अब प्रस्थान करना चाहता हूँ।" तब आचार्य देव ने कहा–"जाना आना तो हमेशा चलता रहता है। यह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।" यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया।

"मैं आचार्यदेव के निस्पृह आचरण और निरीहवृत्ति के द्वारा अभिभूत हुआ हूँ, न केवलज्ञान मात्र के द्वारा। एक साथ आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व मेरे द्वारा देखा गया। ऐसा प्रस्थान के समय समस्त समाज के सम्मुख पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कहा और इसकी चर्चा बृहद् गोष्ठी में की। तत्पश्चात् उन्हीं शास्त्री के द्वारा "एक नवीन नक्षत्र का उदय" यह लेख लिखा गया। मथुरा से प्रकाशित 'जैन सन्देश' नामक पत्रिका में निबद्ध उस लेख को पढ़कर लोग आश्चर्य से रोमांचित हो

गए। उस लेख से अत्यधिक प्रभावित होकर विद्वानों का दर्शन के लिए आगमन प्रारंभ हो गया।

फिरोजाबाद नगर के प्रवास काल में समणसुत्तं ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारंभ हो गया। अनुवाद के पूर्ण होने पर 'जैन गीता' यह ग्रन्थ की नवीन संज्ञा आचार्यवर्य के द्वारा उद्घोषित की गयी और वह १९७८ ई० में महावीर जयन्ती के अवसर पर दमोह नगर में विमोचन के बाद सभी को उपलब्ध हुई। 'समण सुत्तं' इस ग्रन्थ के संकलन के प्रेरणा-स्रोत भूदान आन्दोलन के प्रणेता श्री विनोबाभावेजी थे। उनकी प्रेरणा से जिनेन्द्रवर्णी ने सर्वजन हिताय इस ग्रन्थ का संकलन किया था। यह विशेष है।

सन् १९७७ ई० में दूसरी बार कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर पं० कैलाश-चन्द्रशास्त्री अपनी प्रेरणा से पुनः दर्शन के लिए आये। उनके साथ उस समय के विश्रुत पं० फूलचन्द्रशास्त्री भी आये। 'मूलाचार प्रदीप' इस ग्रन्थ की वाचना आचार्यदेव के द्वारा हो रही थी। उस समय ही पहली बार पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री द्वारा आचार्यदेव को आहारदान दिया गया। दान प्रदान करने से वह बहुत प्रसन्न हुए और भावविभोर हो अपने जीवन की सफलता से गद्गद हो, खुशी के आँसू बहाने लगे। प्रथम बार किसी मुनि को आहार दान दिया ऐसा कहा। तब ही आचार्यदेव के द्वारा उपदेश के समय जीव भी अचेतन होता है, ऐसा विद्वानों के समक्ष कहा। यह सुनकर विद्वान् जन आश्चर्य प्रकट करने लगे, कि जीव कैसे अचेतन होगा? गुरुदेव ने कहा- व्याकुल मत होओ। अनेकान्त दर्शन में सब ही अच्छी तरह घटित हो जाता है। ज्ञान-दर्शन गुण की अपेक्षा से यह जीव चेतन कहा जाता है और वह ही अन्य अनन्त गुणों की अपेक्षा से अचेतन कहा जाता है, यह स्याद्वाद पद्धति है। इन वचनों के द्वारा सभी संतुष्ट हो गए। कैलाशचन्द्र शास्त्री जी के द्वारा मुनि को आहार दिया गया, यह सुनकर और उनके द्वारा लिखित लेख को पढ़कर अन्य कई पण्डित जन उनमें पं० पन्नालालजी, नीरज जी इत्यादि प्रमुख थे, महान् गुरु के दर्शन के लिए आये।

सन् १९७४ में एक युवा एम० बी० बी० एस० डॉ० चुन्नीलाल आचार्यश्री के दर्शन के लिए आये। आचार्यश्री के ज्ञान और उनकी साधना से प्रभावित

होकर वह प्रतिदिन धार्मिक विषयों पर चर्चा करते थे। एक दिन चर्चा के बाद आचार्यश्री की चरणरज लेने के लिए झुके, तो उनकी जेब से रुपये पैसे निकल कर गिर गए। डॉ॰ साहब बिखरे पैसों को उठाकर जेब में रखने लगे, तब आचार्यश्री ने मुस्कुराते हुए कहा–''देखो! चेतन होकर अचेतन के पीछे दौड़ रहा है।'' आचार्यश्री की यह बात सुनकर उन्होंने आचार्यश्री को उत्तर दिया–''गुरुदेव! मैं अचेतन के प्रति आकर्षण का त्याग करने का साहस भी रखता हूँ।'' उनके विवाह को छह मास ही हुए थे। फिर भी उन्होंने कहा मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि छह माह की अवधि में गृह–त्याग कर दीक्षा ले लूँगा। 'अकलूज' से डॉ॰ साहब ने आचार्यश्री को दो–तीन पत्र लिखे, आचार्यश्री कभी पत्र नहीं लिखते हैं, न उत्तर देते हैं। आचार्य गुरुदेव का उत्तर न पाकर डॉ॰ चुन्नीलाल ने अकलूज (महाराष्ट्र) में अक्षयतृतीया को १४ मई, १९७५ को दिगम्बर दीक्षा आचार्यश्री आदिसागरजी (शेडवाल) से ग्रहण की और उनकी पत्नी शकुन्तला क्षुल्लिका बनीं। डॉ॰ साहब मुनि श्री वीरसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्होंने समाधिपूर्वक मरण किया।

सन् १९७५ ई॰ में फिरोजाबाद नगर में वर्षायोग की स्थापना से पहले जब एक दिन ही शेष रहा, तब वहाँ विहार करके आचार्यदेव आये और दूसरे दिन वर्षायोग की स्थापना हुई। वहाँ के लोगों में प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश, श्रेष्ठी छिदामीलाल इत्यादि प्रमुख जन थे। वर्षायोग के प्रारम्भ में वह श्रेष्ठी दूर से ही अपने स्थान पर खड़े होकर श्री गुरु के उपदेश को सुनते थे। सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सोलहकारण भावना, दशलक्षण धर्म इत्यादि विषयों पर प्रवचन माला उस समय चल रही थी। विशिष्ट चिन्तन से उत्पन्न प्रवचन हर घर जाकर के आहार ग्रहण करना व्युत्सर्ग समिति के पालन के लिए तीन किलोमीटर तक आना–जाना और निश्छल निरीहवृत्ति यह सब चिन्तन कर उन श्रेष्ठी का हृदय परिवर्तन हुआ। इसके बाद उन्होंने निकट बैठकर प्रवचन का सुनना और जुड़े हाथों के द्वारा भक्ति वंदना आदि करना प्रारंभ कर दिया। एक बार उन्होंने कहा–''आपके संघस्थ ब्रह्मचारी अष्टमंगल द्रव्य से भगवान् की पूजा क्यों नहीं करते हैं? हम क्या करें? ''उनके पास

धनादिक नहीं रहता इस कारण से वैसा नहीं होता।'' ऐसा उत्तर सुनकर वह ब्रह्मचारी गणों की व्यवस्था में अच्छी प्रकार से संलग्न हो गए।

आचार्य संघ में एक ब्रह्मचारी भीमसेन रहते थे। एक रात्रि में उनके पेट में अत्यन्त दर्द उत्पन्न हुआ। प्राथमिक उपचार के द्वारा बहुत कष्ट से कैसे भी रात्रि व्यतीत हुई। वैय्यावृत्ति के लिए संघ में स्थित अन्य ब्रह्मचारियों को लगाकर प्रातःकाल उपदेश देने के लिए आचार्यवर्य गए। उसी समय ही एक डॉक्टर आये। अपने उपकरण से (स्टेथोस्कोप) परीक्षण करके उन्होंने कहा–इनके पेट में आँतों के ऊपर आँत चढ़ गयी है, इसलिए शीघ्र ही अस्पताल में ले जाकर ऑपरेशन करना पड़ेगा। आचार्य महाराज की आज्ञा के बिना अस्पताल के लिए जाना उचित नहीं ऐसा सोचकर ब्र० अनन्त (वर्तमान में मुनि योगसागर) सूचना प्रदान करने के लिए गए, तब प्रवचन प्रारंभ होने का समय हो गया। मंगलाचरण करने से पहले ही उन्होंने आचार्यवर्य के कानों में घटना क्रम बता दिया। इस प्रकार शोचनीय दशा को सुनकर उस दिन प्रवचन को स्थगित कर गुरुदेव उठ गए। कुछ समय में ही ब्रह्मचारी के कमरे में प्रवेश कर स्थिति पर विचार किया। ऑपरेशन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसा श्रेष्ठी, चिकित्सक आदि ने कहा। समय की देरी प्राणघातक है। अति गम्भीर स्थिति जानकर 'तथाऽस्तु' ऐसा आचार्यदेव के द्वारा स्वीकारोक्ति दी गयी। वहाँ के चिकित्सा अधिकारी के लिए ''ब्रह्मचारी मेरा संघस्थ है'' यह पत्र पर लिखकर प्रमाणिक किया गया। उन सेठजी के द्वारा पूर्णरूप से समय, धनादिक दान के द्वारा उचित व्यवस्था की गयी। इसी चिकित्सक के द्वारा अनुचित इंजेक्शन का प्रयोग किया गया। तब श्रेष्ठी रुष्ट होकर उस चिकित्सक के निलम्बन के लिए व्याकुल हो गए। आचार्यवर्य के क्षमाप्रधान सम्बोधन के द्वारा श्रेष्ठी ने शान्ति का अनुभव किया। इसके बाद जब तक वह ब्रह्मचारी पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए तब तक वहाँ चिकित्सालय में ही रहे। श्रेष्ठी ने अच्छे मनोभावों द्वारा वैय्यावृत्ति तप किया–ऐसी सभी के द्वारा प्रशंसा की गयी। बाद में वह ही ब्रह्मचारी आचार्यवर्य के द्वारा क्षुल्लक दीक्षा से दीक्षित हो गए। क्षुल्लक 'श्री दर्शनसागरजी' इस नये नाम से पुकारे गये।

वर्षाकाल में श्रेष्ठी के घर में भी मुनियों के योग्य आहार बनता था अर्थात् चौका लगता था। चर्या के लिए जब वह निष्ठापन के दूसरे दिन उठे तब आचार्य वर्य का पड़गाहन हुआ। उस नगर से निकलने के एक दिन पूर्व गुरु के द्वारा उपदेश दिया गया–कल 'अतिथि' इस विषय के ऊपर उपदेश होगा। दूसरे दिन आचार्य देव ने विहार कर दिया। दो–तीन कि० मी० जाने के बाद प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी आ गए। "प्रभो! कल अतिथि विषय पर प्रवचन करूँगा ऐसा आपने कहा था आज गमन कर दिया, इससे मेरे मन में विस्मय हो रहा है।" ऐसा उन्होंने कहा। मुस्कराते हुए आचार्यदेव ने कहा–"नहीं, नहीं, इस विषय में विस्मय का अवकाश कैसे?' 'अतिथि' किसका नाम– जिसके आने–जाने की तिथि नहीं है, वह अतिथि कहा जाता है। इस कारण से उस विषय में मेरे द्वारा जीवन्त प्रवचन दिया गया। अन्य तो वाक्यों का संघटन मात्र है।" यह सुनकर वह महोदय संतुष्ट हो गए। आचार्य भगवन् की विनोद युक्त ज्ञानशैली और निरीहवृत्ति से उनके हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई। भक्ति–भावों से उनके द्वारा मातृभाषा में स्तुति की गयी और वह अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। दर्शन के लिए आये सभी जनों के मुख से वह सहज ही स्फुरित होती है, यह मेरे द्वारा सभी जगह सुनी गयी। वह इस प्रकार है–

"रत्नत्रय से पावन जिनका यह औदारिक तन है।
गुप्तिसमिति अनुप्रेक्षा में रत रहता निशदिन मन है॥
सन्मति युग के ऋषि सा जिनका बीत रहा हर क्षण है।
त्याग तपस्या लीन यति अरु प्रवचन कला प्रवण है॥
जिनकी हितकर वाणी सुनकर सबका चित्त मगन है।
जिनके पावन दर्शन पाकर शीतल हुई तपन है॥
तत्त्वों का होता नित चिन्तन मन्थन और मनन है।
विद्या के उन सागर को मम् शत–शत बार नमन है॥"

परमार्थभूत देव, शास्त्र, गुरुओं पर श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का प्रथम लक्षण है। अलौकिक गुरुओं के दर्शन, प्रवचन श्रवण और भक्ति आदि करने से आसन्न भव्य जीव को प्रमोद उत्पन्न होता है। जिस प्रकार

चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (चाँदनी) से सागर के जल में उल्लास सहज ही होता है, उसी प्रकार निकट भव्य के हृदय में सच्चे गुरु की वाणी से होता है। दूसरों की प्रेरणा के बिना ही श्रद्धालुजन गुरु के चरणों में नमस्कार करते है और निश्चय मत को मानने वाले भी। इस विषय में अनेक उदाहरण सभी के द्वारा देखे और सुने गए। यहाँ तो प्रसिद्ध विद्वान् का उदाहरण दिग्दर्शन मात्र के लिए है। उनके मध्य में एक निश्चय मतावलम्बी विद्वान् परमेष्ठीदास थे और वह ललितपुर नगर के निवासी थे। अपने नगर से दूर स्थित होने पर भी वह श्रीगुरु के दर्शन के लिए आये। उस समय ऊपर के कमरे में आचार्य श्री बैठे थे। वह विद्वान् हृदय रोग से पीड़ित थे। फिर भी भक्ति से भरे सीढ़ियों के द्वारा ऊपर स्थित कमरे में पहुँचे। मेरा जीवन आज धन्य हो गया। ऐसा उनके द्वारा मुख मुद्रा से स्पष्ट व्यक्त किया गया।

सन् १९७६ ई० में श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में भोपाल नगरी से मुमुक्षु मण्डल एक बार आचार्यपरमेष्ठी के दर्शन के लिए आया, उनमें ब्र० हेमचन्द्र प्रमुख विद्वान् थे। उनके साथ महिलावर्ग भी आया था। दर्शन के लिए रास्ते में जाते हुए मुमुक्षुओं के द्वारा मध्य में स्थित संघस्थ लोग भी देखे गए। तब तक उनके द्वारा किसी को भी अभिवादन निवेदित नहीं किया गया। जहाँ आचार्यदेव बैठे थे, वहाँ ही वे सभी आकर के बैठ गए। नासाग्रदृष्टि मुख से बैठे हुए आचार्य देव को सभी ने देखा। आचार्य देव ने न पूछा, न देखा कि आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? और न उनके मण्डल ने कुछ भी पूछा। इस प्रकार आधा घण्टा निकल गया। तब उनके मण्डल में से एक व्यक्ति ने उठकर क्षु० श्री योगसागरजी के समीप जाकर अभिवादन करके पूछा–'आचार्यदेव क्या मौन व्रत से बैठे हैं, जिससे नहीं बोलते हैं?' क्षुल्लक महाराज ने कहा–''मौन नहीं है। आचार्यदेव पृच्छना के बिना स्वयं नहीं बोलते हैं। इसलिए कुछ पूछना चाहिए। प्रश्न का विषय भी समीचीन होना चाहिए। समीचीन प्रश्न का ही उत्तर उनके मुख कमल से आता है।'' ऐसा जानकर वह आया हुआ व्यक्ति वहाँ गया। 'नमोऽस्तु' ऐसा अभिवादन समर्पित करके ज्येष्ठ व्यक्ति ने उनसे चर्चा करना प्रारम्भ कर दिया। सभी को शास्त्रोक्त चर्चा के द्वारा संतोष प्राप्त हुआ। उनमें से

कुछ ने सम्यग्ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। दूसरे दिन कुछ लोगों ने आहारदान दिया।

सन् १९७६ ई० में कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में वर्षायोग से पहले क्षु० समयसागर की अस्वस्थता को प्रतिदिन बढ़ता हुआ देखकर कटनी निवासी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने गुरुदेव से प्रार्थना की कि यह विभिन्न प्रकार के सब जन्तुओं से भरा हुआ जंगल है। यहाँ कोई भी कुशल वैद्य नहीं है। वर्षायोग की स्थापना में अभी एक मास शेष है इस कारण से क्षुल्लक महाराज को कटनी नगर ले जाने की आज्ञा दें। गुरु ने कहा–''श्रावकों का अधिक संसर्ग संयम में बाधक है।'' फिर भी पण्डितवर्य के द्वारा निवेदन किया गया–''मेरे साथ योगसागरजी को भी भेज दीजिये।'' तब गुरु ने कहा–''नहीं नियमसागर को ले जाओ।'' अपने नगर में आकर एक दिन संध्या के समय ठंडे पसीने से गीले शरीर को देखकर वैद्य को ढूँढ़ने के लिए एक अध्यापक को वहाँ नियुक्त करके पण्डित जी चले गए। वैद्य और अंग्रेजी डॉक्टरों ने उनका परीक्षण कर कहा–नाड़ी का अनुभव नहीं हो रहा है, हृदय अच्छी तरह से काम नहीं करता है, ज्वर मापक यन्त्र में भी कोई सूचना नहीं है, ऐसी विपरीत स्थिति की समीक्षा कर क्षु० महाराज से विद्वान् ने पूछा–''यदि स्वास्थ्य का लाभ नहीं हुआ तो क्या करेंगे।'' तब बोले– 'समाधि स्वीकार करूँगा।' मेरे साथ भक्तामर स्तोत्र पढ़ो ऐसा कहते हुए वह उस समय ही पढ़ने में लग्न हो गए। उसी समय वर्धा के सरकारी चिकित्सालय के वरिष्ठ अंग्रेजी चिकित्सक उस नगर में आये। उन्होंने भी परीक्षण कर कहा–आत्मशक्ति के वश से ही यह अवस्थित हैं। ऐसी स्थिति में रोगी स्मृति-शून्य देखा जाता है। तब ही लोग पत्र के साथ ही श्री गुरु के समीप कार से गए। पत्र में विद्वान् महोदय ने लिखा था–''महाराज की समाधि का समय आ गया है। समाधि के कारण से साधु समस्त नियमों का उल्लंघन करके जाते हैं, ऐसा शास्त्र का नियम है।'' पत्र को पढ़कर गुरुजी ने कहा–''वह विद्वान् वहाँ ही समाधि करा देवें मेरी आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर विद्वान्जी के पुत्र प्रमोद ने कहा–''महाराज आप कठोर हृदय हैं। अपने अनुज की भी उपेक्षा करते हैं।'' तब गुरु ने कहा–''मैं

आपके पिता की भाषा जानता हूँ उनसे कहना आप गृहस्थ हैं, मैं साधु हूँ।'' स्वरूपानन्द क्षुल्लक को भी ले जाओ। इधर शुद्ध औषधि के वश से धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ हो गया। गुरु के धैर्य, विवेक और निर्मोहता का मन में चिन्तन कर सभी को बहुत प्रसन्नता हुई।

सन् १९७६ ई० में यह घटना घटित हुई थी। जब आचार्यदेव विहार करके कटनी नगर में आये। पं० जगन्मोहनलाल उस नगर के ही वासी थे। पहले से ही वह उनके रत्नत्रय तेज से प्रभावित थे। उनको जब अपने नगर में उन्हीं गुरु के आगमन की जानकारी मिली तब उनके आनन्द का पार ही नहीं रहा। उपदेश श्रवण से ज्ञान वैराग्य की वृद्धि, दिगम्बर रूप के साक्षात् दर्शन से दर्शन-विशुद्धि और साथ में बैठकर वार्तालाप करने से तत्त्व रुचि में अभिवृद्धि हुई। इस कारण से उन विद्वान् ने विशुद्धिपूर्वक श्रावक के योग्य सप्तम प्रतिमा सम्बन्धी व्रतों को ग्रहण किया। यह सुनकर अनेक विद्वज्जनों को आश्चर्य हुआ। ''सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र को ग्रहण करना है'' ऐसी प्रशंसा की गयी। ''विद्वानों में चारित्र ग्रहण की बुद्धि अति दुर्लभ है।'' ऐसा अनेकों के द्वारा कहकर प्रशंसा की गई।

उस नगर में आचार्य संघ के सान्निध्य में श्री महावीर जयन्ती महोत्सव सभी के द्वारा सामाजिक रूप से उल्लास पूर्वक आयोजित किया गया। महोत्सव के समापन के दो दिन के बाद अचानक संघ के मध्य में 'गण्ठकटरी' यह कन्नड़ भाषा का वाक्य आचार्यदेव ने कहा। हिन्दी भाषा में उसका अर्थ है 'बस्ता बाँधो'। उस दिन ही क्षु० श्री समयसागरजी के शरीर में ताप उत्पन्न हो गया। इस कारण से विहार स्थगित हो गया। उस ही रात्रि में आचार्यदेव के शरीर में भी बुखार का वेग देखा गया। दूसरे दिन क्षुल्लक नियमसागरजी बुखार के वेग से पीड़ित हो गए। तब ग्रीष्मकाल का समय था। शाम को क्षु० श्री योगसागरजी आचार्यवर्य के समीप में आये। उन्होंने देखा कि बुखार का वेग तीव्रतम है। पूरा ही शरीर अत्यन्त गर्म है। घास (प्याल) के द्वारा शरीर को ढकने पर भी वह कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ। शरीर में अत्यधिक कम्पन था। आँखों में लालिमा सहित आँसू गिर रहे थे। तापमान यन्त्र में १०७ डिग्री तक बुखार की सीमा उत्पन्न हुई।

किसी समय तो उससे भी अधिक ताप उत्पन्न हुआ। पं० जगन्मोहनलाल ने भी संपूर्ण समय वहाँ ही समीप में रहते हुए निकाला। सभी की चिन्ता का विषय यह समाचार सभी जगह हवा की तरह फैल गया। सभी श्रद्धालु उस स्थान पर आ आकर एकत्र होने लगे। पूरी रात णमोकर मंत्र का जाप अनुष्ठान हुआ। बर्फ के प्रयोग से भी (ताप) बुखार में कमी नहीं हुई। पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने मन में विचार किया कि–ये सभी क्षुल्लक महाराज नवदीक्षित हैं। उनमें भी सभी प्राय: अस्वस्थ हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने क्षु० श्री योगसागर जी से पूछा–क्या कोई अन्य ज्येष्ठ महाराज भी कहीं है अथवा नहीं। 'हाँ हैं' ऐसा क्षु० श्री ने कहा। उनका नाम क्षु० श्री स्वरूपानन्द जी है। वह आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के अन्तिम शिष्य हैं। उन शिष्य को लाने के लिए शास्त्री जी के द्वारा राजस्थान समाचार भेजा गया। ऐसी कठिन स्थिति को जानकर बहुत से प्रमुख लोग भी आये। उनमें चौ० दीपचन्द्र, श्रेष्ठी कजौड़ीमल, पं० मूलचन्द लुहाड़िया, पं० छगनलाल पाटनी, ताराचन्द इत्यादि प्रमुख थे। तीन चार दिन व्यतीत होने पर भी स्थिति नियन्त्रित नहीं हुई। छह आवश्यकों के परिपालन में शरीर की असमर्थता और शास्त्राज्ञा का अच्छी तरह चिन्तन कर आचार्यदेव ने मन में कोई गूढ़ संकल्प किया। क्षु० श्री योगसागरजी को बुलाकर उनके कान में आचार्यश्री ने कुछ कहा कि आठ दिन तक 'आचार्य महाराज' इस उपाधि द्वारा जयकार नहीं करना चाहिए। इस कष्ट के समय में भी मूर्च्छित दशा में भी करने योग्य कार्य में ऐसी जाग्रति। हाँ! आचार्य पदवी के प्रति निर्लिप्तता ज्ञात होती है। निश्चित रूप से यह उपाधि उन्हें भार के समान प्रतीत होती थी। इस प्रकार मन में विचार करके सभी विद्वान् आश्चर्यचकित हो गए। पं० जगन्मोहनलाल पूरे समय श्रीगुरु के समीप ही रहते थे। उनके द्वारा मन्त्र-विद्या का प्रयोग भी स्वास्थ्य लाभ के लिए किया गया। कभी तो श्रीगुरु की अप्रतिकार स्थिति को देखकर उन शास्त्रीजी के नेत्र सजल देखे गए। वहाँ के रघुवरप्रसाद वैद्य वैय्यावृत्ति के लिए आये थे। अन्य वैद्य भी इसके लिए नियुक्त थे। बहुत दिन तक तापमान वैसा ही ऊँचा (तेज) रहा। जिससे शरीर में अत्यन्त कमजोरी आ गयी। धीरे-धीरे आशा की किरण

स्फुटित हुई। ताप की न्यूनता हो गई। दो मास से अधिक समय तक यह घटनाक्रम चला। ज्वर के जाने पर भी शक्ति के क्षीण हो जाने पर स्वयं चलने में असमर्थ हो गए, जब तक कि कुछ दिन न निकल गए। अशक्त अवस्था में स्वाध्याय करने की शक्ति न थी। उस समय श्री समयसार ग्रन्थ विषय पर उपदिष्ट व्याख्यान को टेप रिकार्डर के द्वारा सुनते थे। वह व्याख्यान स्वयं शास्त्री जी के द्वारा किया हुआ था। तत्पश्चात् कुछ विषय पर परस्पर वार्तालाप करते थे। एक बार चर्चा के समय शास्त्री जी के द्वारा कहा गया—श्री समयसार ग्रन्थ की मातृभाषा में टीका करने की मेरे मन में भावना थी। जब मुझे यह जानकारी हुई कि श्री ज्ञानसागर जी मुनि उसको कर रहे हैं इस कारण से फिर नहीं किया। पश्चात् पं० नीरज जी की प्रेरणा से उस ग्रन्थ की प्रथम बृहद् टीका में जो कलश रूप पद्य है उनका संग्रह कर हिन्दी टीका के साथ मैंने लिखा है।

प्रकाशन से पूर्व सन् १९७७ ई० में कुण्डलपुर सिद्ध क्षेत्र में श्री गुरु के समीप शास्त्री जी ने उसका वाचन किया। कुछ स्थानों पर जैसे श्री गुरु के द्वारा कहे गए वैसे संशोधन भी शास्त्री जी के द्वारा किए गए। 'अध्यात्म अमृत कलश' इस नाम से वह उन्होंने प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के पृष्ठ क्रमांक ७७ पर अंकित वैराग्य चर्चा को पढ़कर आचार्यश्री ने कहा— ''पडितजी! पृष्ठ ७७, आयु भी ७७ वर्ष, सन् भी ७७, उत्तम योग है।'' और पंडितजी की ओर देखकर हँसने लगे। पंडितजी समझ गए कि आचार्यश्री का इशारा किस ओर है?

आगामी वर्षायोग करने के लिए आचार्यदेव ने कटनी नगर से प्रस्थान कर दिया। कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर उनका आगमन हुआ। पहले से ही उनके शरीर में बल की क्षीणता थी। फिर भी बीच-बीच के ग्राम, नगर में विहार करते हुए कैसे भी उस क्षेत्र पर आये। वर्षा के कारण से कभी-कभी शरीर गीला हो जाता था। इस कारण से उस क्षेत्र में दस दिन के बाद पुनः शरीर में बुखार उत्पन्न हो गया। उसकी तीव्रता पहले की ही तरह १०७ डिग्री थी। कुछ दिन बाद बुखार कम हो गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ हो गया। संघस्थ शिष्यों को पढ़ाना भी प्रायः स्थगित था। दूसरा वर्षायोग सन्

१९७७ ई० में भी कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में आचार्यवर्य के द्वारा स्थापित किया गया था।

कातन्त्रव्याकरण का अध्ययन उस समय प्रारम्भ किया था। एक बार पं० जगन्मोहनलाल कक्षा में अर्घ समर्पण के लिए आये। कक्षा के बीच में ही उन्होंने पूछा–''भगवन्! कैसे आपके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ?'' विनोद शैली में आचार्यश्री ने कहा–''भगवान् अरिहन्त में राग उत्पन्न हुआ इससे संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया।'' फिर से शास्त्रीजी बोले–आपके दर्शन से मेरे मन में लज्जा उत्पन्न होती है। अल्प आयु में ही आपके द्वारा सम्यग्ज्ञान के साथ तलवार की धार के समान सम्यक्चारित्र का भी पालन किया जाता है। मेरा जीवन तो सुनने-सुनाने पढ़ने-पढ़ाने में ही चला गया। युवा वय में करने योग्य मैंने तपश्चरण नहीं किया, यह खेद का विषय है। यह सुनकर कक्षा में प्रचलित विषय पुनः प्रारंभ हो गया। कक्षा के समाप्त होने पर शास्त्रीजी ने पुनः कहा–''भगवन्! आपके द्वारा जो वैराग्य का कारण कहा गया वह सन्तोषप्रद नहीं है। अन्य कोई बात है, उसको कहिए। तब आचार्यदेव ने कहा कि–''आप जैसे संसारियों का मुख ही मेरे वैराग्य का कारण है।'' इस संसार में सुख नहीं है इसलिए ही सभी के मुख खेद खिन्न देखे जाते हैं। ऐसी दशा हमारी भी न हो, इस कारण से मन में विरागता उत्पन्न हुई। यह वचन सुनकर शास्त्रीजी ने अपने मन में विचार किया–पूर्व जन्म में किए हुए पुण्य का यह निश्चित रूप से फल है। इस कारण से ही इस प्रकार का प्राकृतिक वैराग्य उत्पन्न हुआ। आप धन्य हो, आपके दर्शन से, मैं भी धन्य हो गया।

सच है–''जिस प्रकार कामीजन स्त्रियों का मुख देखकर कभी तृप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार जो ज्ञानीजन हैं निजात्म तत्त्व के पान में तृप्ति प्राप्त नहीं करते हैं।''

विद्वान् जगन्मोहनलाल प्रातः गुरुदेव के उपदेश के बाद १५ मिनट बैठते थे और शाम को शास्त्रीय चर्चा भी चलती थी। आठ दिन पर्यंत तक वहाँ निवास हुआ। उस बीच में न कभी विश्राम, न कोई लौकिक चर्चा, सदा अप्रमत्त रहते हुए अनुशासित संघ इत्यादि विशिष्टताओं के साथ

संघस्थ शिष्य भी निरीह रहते हुए गुरुदेव का अनुकरण करते थे। नागौद से कोई श्रावक समयसूचिका यंत्र (घड़ी) समय जानने के लिए आचार्य देव को प्रदान करने हेतु निवेदन किया, किन्तु उसकी वह अनुनय भी व्यर्थ गई। पं० नीरज आदि मान्य श्रावक रास्ता जानने की इच्छा कर रहे थे, कि गुरुदेव का विहार किस रास्ते से होगा। उनके पूछने पर एक ही वचन–''आप चिंता न करें जैसा योग होगा वैसा हो जाएगा।'' पाँच महाराज के सभी ग्रंथ आदि दो बस्ते में आ जाते थे, उसमें भी निश्िंचत होकर के सभी विहार करते थे। रविवारीय प्रवचन की उद्घोषणा होने पर भी शनिवार को ही गुरुदेव ने लोक ख्याति से निरपेक्ष रहते हुए विहार कर दिया। २८ फरवरी, रविवार को कटनी से २२ मील दूर बेला ग्राम में आहार चर्या हुई। क्योंकि– मन–वचन–काय से कृत–कारित–अनुमोदना से जो नहीं किया गया है, यति उसी भोजन को नित्य ग्रहण करते हैं। इसलिए संकेत से रहित होते हुए सदैव अशन और आसन होते हैं। जिनकी उद्घोषणा पहले से हो गई, वह निर्दोष कैसे हो सकता है? गोचरी के समय भी हुंकार और इशारे से रहित, आक्रोश के बिना नीरस भोजन साधुजन सदैव करते हैं। अतिथियों और मुनियों की तिथि निश्चित हो जाने पर, वह फिर अतिथि कैसे होंगे? इसलिए आचार्य महाराज संकल्प से रहित रहते हैं। विन्ध्यक्षेत्र में रीवा नगर में पद्मधर उद्यान में कुछ रुक करके फिर बेला गाँव से अमरपाटन आकर मैहर रास्ते से ९ अप्रैल, १९७६ को कटनी नगर आ गये।

सन् १९७७ ई० फरवरी माह में श्री द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र में आचार्यदेव का प्रवास था। वहाँ एक दृढ़तर निश्चय मतावलम्बी विद्वान् आये। उनका नाम मुन्नालाल रांधेलिया था। वह 'वर्णी' इस उपनाम से प्रसिद्ध थे। उन विद्वान् ने श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा में भाषाटीका रची और वह उनके पाण्डित्य परिचय के लिए अन्यतम उदाहरण है। व्यवहार–निश्चयनय के विषय में आचार्यदेव के साथ उनकी समीचीन बातचीत हुई थी।

द्रोणगिरि क्षेत्र में १९८० में पुन: आचार्यदेव के प्रवासकाल में एक बार प्रात: गुरुदेव की पूजा के लिए ब्रह्मचारिणी बहिन मणिबाई आयी तो

गुरुदेव ने उनसे पूछा–क्या द्रव्य है? उन्होंने कहा–हाँ है। तदनन्तर एक शिला पर ऐलक समयसागरजी को बैठाकर संस्कार करके चैत्र कृष्णा षष्ठी शनिवार के दिन ८ मार्च, १९८० को जिनदीक्षा प्रदान की। वह प्रथम मुनि शिष्य श्री समयसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस क्षेत्र पर ही बीना नगर के निवासी न्यायाचार्य कोठियाजी पुनः दर्शन के लिए आये। न्याय विषय पर भी आचार्यदेव का सिद्धान्त-अध्यात्म विषय के समान एकाधिकार देखकर वह विस्मित हो गए, क्योंकि न्याय का विषय नीरस है इसलिए ही उसके ज्ञाता भी दुर्लभ हैं। जिसको जो अच्छा लगता है, उसको प्राप्त कर किसे प्रसन्नता नहीं होती। जिस प्रकार चन्द्रमा के दर्शन से रात्रि कमल खिलते हैं। नीरस विषयों को भी विभिन्न उदाहरण से सरल करना श्री गुरु की अप्रतिम प्रतिभा है। इस कारण से ही विद्वान ने कहा–''आचार्यपरमेष्ठी! आपके पाण्डित्य के सम्मुख हम तो निरक्षर प्रतीत होते हैं।'' यह सुनकर सभी हँसने लगे।

एक दिन पं० कोठिया जी ने आचार्यदेव के समक्ष कहा, कि आज तक सिद्धान्त शास्त्र सभी को गोचर (ज्ञान विषय) नहीं हुए है। बहुत प्रयास के द्वारा उनका सम्पादन और प्रकाशन किया गया है। इससे पूर्व तो सभी दूर से ही दर्शन से संतुष्ट होते थे। इस कारण से आपके सान्निध्य में श्री षट्खण्डागम आदि शास्त्रों की वाचना होनी चाहिए। 'देखो' ऐसा मुस्कुराते हुए श्री गुरु ने कहा। वह वचन स्वीकृति का ही लक्षण है, ऐसा मन में धारण कर पं० कोठियाजी उस कार्य को मूर्त रूप प्रदान करने में संलग्न हो गए। उस समय जो वरिष्ठ विद्वान थे, उनको अभिप्राय की जानकारी दी गयी उसके अनुसार ही आगे की योजना बनी। प्रायः सभी विद्वानों ने इस कार्य के विषय में प्रशंसा की। इसमें उनका उत्साहवर्धन हुआ। बहुत समय विद्वानों की सम्मति प्राप्त करने में चला गया, क्योंकि स्थान का चयन ही मुख्य समस्या थी। आचार्य वर्य किस स्थान पर कितने दिन रहेंगे, यह निश्चित नहीं होता था। बार-बार निवेदन करने से और पुण्य के संयोग से आचार्यदेव सागर जनपद में आये।

सागर में मोराजी क्षेत्र पर वैशाखकृष्णा अमावस्या को मंगलवार के

दिन विक्रम संवत् २०३७ तदनुसार १५ अप्रैल १९८० को ऐलक श्रीयोगसागरजी, ऐलक श्रीनियमसागरजी के साथ गुरुदेव की कृपा से जिनदीक्षा ग्रहण किये।

वह स्थान उन विद्वान् का निवास स्थान भी था। आचार्यदेव यहाँ प्रवास करेंगे, ऐसा सोचकर उनके द्वारा सभी जगह समाचार भेजा गया। सन् १९८० ई० के ग्रीष्मकाल में मोराजी स्थान पर विद्वान् एकत्रित हुए। उनमें पं० फूलचन्द्र शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, पं० पन्नालाल शास्त्री, पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पं० बालचन्द्र शास्त्री, पं० दरबारीलाल कोठिया, जिनेन्द्र वर्णी इत्यादि सिद्धान्तज्ञ प्रमुख थे। पं० बालचन्द्र शास्त्री मुख्य प्रति आगे स्थापित करके प्रकाशित शास्त्र से मिलाकर पढ़ते थे। वाचना शिविर के कुलपति पं० जगन्मोहनलाल जी नियुक्त थे। उस समय श्री धवला ग्रन्थ की पहली और चौथी पुस्तक अच्छी प्रकार पढ़ी गयी। अपनी अभिलाषा की पूर्ति होने पर पं० पन्नालाल शास्त्री अत्यन्त आनन्दित हुए। बुद्धि का फल आत्म हित में प्रवृत्ति है। उनके द्वारा उन्होंने सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए सप्तम प्रतिमा के व्रत श्रीगुरु के समीप संकल्प पूर्वक लिए। यह क्रम आगे भी चलता रहा। दूसरी बार जबलपुर के मढ़िया जी क्षेत्र में सन् १९८१ ई० में ग्रीष्म काल में श्री धवला ग्रन्थ की नवमीं और तेरहवीं पुस्तक अच्छी तरह पढ़ी गयी।

सन् १९८२ ई० के ग्रीष्म काल में पुनः सागर जनपद में श्री धवला ग्रन्थ की आठवीं और चौदहवीं पुस्तक वाचना के द्वारा अच्छी प्रकार पढ़ी गयी।

सन् १९८४ ई० के ग्रीष्मकाल में जबलपुर में श्री धवला ग्रन्थ की सातवीं और पन्द्रहवीं पुस्तक वाचना के लिए चुनी गयी। उस समय पं० जवाहरलाल सिद्धान्त शास्त्री राजस्थान प्रदेश के भीण्डर स्थान से आये। वह भाषा अनभिज्ञ होते हुए भी सिद्धान्तवेत्ता थे। किस पुस्तक में किस पंक्ति में यह संदर्भ विषय है, वह शीघ्र ही बता देते।

सन् १९८५ ई० में खुरई नगर में ग्रीष्म ऋतु में श्री धवला गन्थ की पन्द्रहवीं पुस्तक का शेष भाग और सोलहवीं पुस्तक वाचना के विषय के

सागर स्थित मोराजी में ऐलक श्री योगसागरजी, ऐलक नियमसागरजी को मुनिदीक्षा देते हुए आचार्यश्री

लिए उपदिष्ट की गयी। इसके बाद श्री जयधवला ग्रन्थ की प्रथम और तेरहवीं पुस्तक उच्चरित की गयी।

सन् १९८६ ई० मध्यप्रदेश के पपौरा क्षेत्र में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की पाँचवी और श्री जयधवला ग्रन्थ की बारहवीं पुस्तक वाचना विषय के लिए चुनी गयी। सन् १९८७ ई० में उत्तर प्रदेश के ललितपुर नगर में क्षेत्रपाल जी स्थान में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की ग्यारहवीं और बारहवीं पुस्तक वाचना के लिए उच्चरित की गयी। सन् १९८८ ई० में पुनः ललितपुर नगर में क्षेत्रपाल जी स्थान में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की छठवीं पुस्तक अच्छी प्रकार पढ़ी गयी। सन् १९८९ ई० में जबलपुर के मढ़िया क्षेत्र में ग्रीष्म ऋतु में श्री जयधवला ग्रन्थ की चौदहवीं पुस्तक भली प्रकार कही गयी। इन वाचनाओं में ब्र० राकेश शास्त्री, पं० नीरजजी अनेक स्थानीय विद्वान् संघस्थ साधु, ब्रह्मचारिणी बहनें, ब्रह्मचारी और श्रावक-श्राविकायें सभी बैठते थे। बीच-बीच में शंका समाधान भी होता था। वाचना की समाप्ति पर आचार्य प्रवर के उपदेश की शृंखला चलती थी। वहाँ हुई घटनाओं में कुछ स्मरण योग्य हैं, उन्हें यहाँ कहते हैं—

एक बार विद्वानों की सभा के बीच में आचार्य परमेष्ठी ने उपदेश दिया—हम अनन्तकालपर्यन्त तक "आत्मा अचेतन है, आत्मा अचेतन है" इस प्रकार कहने में समर्थ हैं। इन वचनों को सुनकर सभी एक दूसरे का मुख देखने लगे। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि सभी द्रव्यों में एक द्रव्य ही चेतन है, अन्य सभी अचेतन हैं, तो आत्मा कैसे अचेतन है? इसको सिद्ध कीजिए। आचार्यवर्य बोले—चिन्ता मत करो, सावधानी पूर्वक सुनो, क्योंकि आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है। उनमें प्रमेयत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्त गुण अचेतन हैं। उनके व्याख्यान में अनन्तकाल निकल जायेगा। अन्त में मैं ज्ञानगुण और दर्शनगुण का कथन करूँगा। उस समय तक 'आत्मा अचेतन है' ऐसा कह सकता हूँ। इस विषय में किसी को आपत्ति (पारस्परिक असंगति) नहीं, आगम में आत्मा के दो गुण ही चैतन्य स्वीकार किए गए हैं। वैसा ही सिद्ध आत्माओं में जानना चाहिए। ऐसे स्याद्वाद गर्भित वचनों को सुनकर सभी ने ताली

बजाकर आचार्य देव का जयकार किया। पण्डितजन आचार्यदेव के मुख को देखते हुए चकित हो गए।

शास्त्रियों के बीच में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री निष्पक्ष प्रभावक और निर्भीक वक्ता थे। एक दिन आचार्यवर्य की उपस्थिति में ही समाज के लोगों को उन्होंने प्रबोधित किया–श्रावकों को हमेशा जागरूक होना चाहिए। साधुओं के चारित्र की शिथिलता के लिए हम भी प्रमुखरूप से दोषी हैं। साधु सांसारिक कार्यों से विरक्त होते हैं। अतः वे हमेशा विरक्त ही रहें, इस प्रकार का प्रयास हमेशा करना चाहिए। आज आचार्यदेव एक बहुमूल्य रत्न हैं। वह हमेशा जगमगाते रहें ऐसी सभी के द्वारा भावना आनी चाहिए। पं० पन्नालालजी, कैलाशचन्द्र शास्त्री के शिष्य समान थे। वाचना समय में किसी भव्य की कुछ भी जिज्ञासा उत्पन्न हो, उसका समाधान करने के लिए पं० पन्नालालजी प्रयत्न करते थे। यह सुनकर पं० कैलाशचन्द्रजी गम्भीर वाणी में बोले–अरे पन्नालाल! यह सर्वज्ञदेव की वाणी है। इसमें अपनी बुद्धि क्यों चलाते हो? आगे पढ़ो। यह विद्वानों में परस्पर सामान्य व्यवहार था। ''स्वभावोऽतर्कगोचरः'' (स्वभाव तर्क गोचर नहीं है) इन वचनों के कारण सिद्धान्त विषय में कोई भी युक्ति कथंचित् अप्रयोजनीय प्रतीत होती है।

वाचना में प्रथम तो विद्वानों के द्वारा परस्पर जिज्ञासा समाधान का व्यवहार होता था। तत्पश्चात् ही पर्चियों के ऊपर प्रश्न व्यवहार प्रारंभ होता था। एक बार किसी जन ने एक जिज्ञासा पर्ची के द्वारा प्रस्तुत की। एक विद्वान् के द्वारा उस प्रश्न का उत्तर हँसी में दिया गया। यह जानकर वह प्रश्नकर्ता असंतुष्ट हो गया, विद्वान् का ऐसा व्यवहार उसको समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। उसके द्वारा तब ही एक अन्य पर्ची भेजी गयी। जिसके ऊपर लिखा था–''किसी के भी प्रश्न का उत्तर हँसी के द्वारा नहीं देना चाहिए'' यह मेरा निवेदन है। इस दृष्टान्त के द्वारा जाना जाता है कि छोटे भी ज्ञानवानों के द्वारा उपेक्षणीय नहीं है, यह शास्त्र व्याख्यान के काल में सभी के द्वारा याद रखा जाना चाहिए।

यद्यपि वहाँ बहुत सिद्धान्तज्ञ थे, तथापि उनमें पं० फूलचन्द्र शास्त्री

विशिष्ट ज्ञानवान् थे। एक दिन चर्चा चली कि देव-शास्त्र-गुरु के मध्य में कौन-सा क्रम समीचीन है-देव-शास्त्र-गुरु अथवा देव-गुरु-शास्त्र? इस विषय में ''शास्त्र बीच में होना चाहिए'' यह विचार उक्त शास्त्री के द्वारा कहा गया। विद्वानों के मध्य में यह चर्चा अब बहुत समय तक की गयी फिर भी उचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ। तब परस्पर में निर्णय किया गया कि आचार्यदेव का अभिप्राय जानना चाहिए, वह ही (प्रमाणित) प्रमाण के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। आचार्यदेव बोले-''शास्त्र का क्रम अन्त में होना चाहिए।'' इस विषय में यह युक्ति जानने योग्य है। अर्हन्तदेव के मुख से निकली वाणी पहले गणधरदेव के द्वारा सुनी गयी है, पश्चात् उनके द्वारा शास्त्र रचना की गयी। इससे सिद्ध हुआ देव-गुरु-शास्त्र इस क्रम से पढ़ना समीचीन है। दूसरी बात यह है मंगलादि दण्डक में ''केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम्'' इत्यादि के द्वारा भी निश्चित किया जाता है जो केवली प्रणीत धर्म शास्त्र रूप है, वह अन्त में मंगल है, वह अन्त में लोकोत्तम है, वह अन्त में शरण हैं। मध्य में तो गुरु का क्रम है यह निश्चित है।

सन् १९७७ ई० में एक विशिष्ट स्मरण रखने योग्य घटना घटित हुई। कोई निश्चय मतावलम्बी आचार्यदेव के समीप आये। उनका नाम 'माणिकचन्द्र चौवरे' यह प्रसिद्ध था। वह आचार्य समन्तभद्रजी के शिष्य थे। उनके द्वारा आहार चर्या की समाप्ति के बाद आचार्यदेव के साथ जिज्ञासा समाधान किया गया। १२ बजे तब आचार्यदेव ने कहा-तत्त्व चर्चा बस करो। सामायिक का समय हो गया है। इस प्रकार कहते हुए आचार्यवर्य ने सामायिक क्रिया प्रारंभ कर दी। उस समय माणिकचन्द्र जी कहते हैं- ''भाव सामायिक छोड़कर द्रव्य सामायिक करने के लिए तैयार हैं।'' श्री गुरु के द्वारा यह वचन अच्छी तरह सुने गए। क्रोध रहित होकर गुरुदेव ने सामायिक की। पश्चात् अपराह्न काल में उपदेश के समय उन्होंने सामायिक का महत्त्व बताया। माणिकचन्द्र के साथ पं० जगन्मोहनलाल, पं० खुशालचन्द बोरावाला इत्यादि विशारद भी उपदेश सुन रहे थे। सामायिक के स्वरूप को अच्छी तरह से जानकर उनके मन में प्रसन्नता उत्पन्न हुई। मेरे

द्वारा बिना विचारे कहा गया, यह विचार भी उनके हृदय को सन्तापित करता था। वह महाराष्ट्री जन माणिकचन्द्र आचार्यदेव के दर्शन के लिए बाद में भी आये, क्योंकि श्रीगुरु की वाणी उनको समीचीन प्रतीत हुई थी।

उनके विद्वान् गुरु आचार्य समन्तभद्रदेव के द्वारा एक बार पत्र द्वारा एक निवेदन भेजा गया। वह सल्लेखना करने के लिए आचार्यवर्य का सान्निध्य चाहते थे। आचार्यवर्य के द्वारा प्रति उत्तर दिया गया कि आपकी अभिलाषा अत्यधिक उत्तम और प्रशंसनीय है तथापि यह तब ही संभव है, जब आपके द्वारा आपका क्षेत्र परिवर्तन किया जाए। किसी भी कारण से वैसा करने में असंभव वह आचार्यश्री का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर पाये। उस स्थान पर ही उनका समाधिमरण हुआ।

अन्त में समाधिपूर्वक प्राण त्यागना कौन नहीं चाहता। जो सम्यग्ज्ञानी है, वह निरन्तर सल्लेखना के लिए प्रयास करता है। वह सल्लेखना निर्यापकाचार्य के बिना अति उत्तम नहीं होती, ऐसा आराधना शास्त्रों में कहा गया है। इसी कारण से बहुत से विद्वान् आचार्यदेव का सान्निध्य प्राण त्यागने के लिए चाहते हैं। मात्र स्व-कल्याण चाहने वाले सम्यग्ज्ञानी सामान्य जन हैं, उनका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता, यद्यपि उनके द्वारा भी आचार्य देव के सान्निध्य में समाधि ली गयी है।

उन विद्वानों में सागर निवासी पं० पन्नालाल एक थे। जिनके विषय में पहले भी कुछ वर्णन किया गया, निश्चित रूप से वह न केवल आचार्यदेव के चरणचंचरीक थे, अपितु गुरुणांगुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के प्रति भी भक्ति श्रद्धा से भरे थे। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के द्वारा रचित यद्यपि बहुत शास्त्र हैं, तथापि उनमें से जयोदय महाकाव्य श्रेष्ठ है। लोग उसकी संस्कृत भाषा की मातृभाषा टीका के बिना गूढ़ क्लिष्ट वाच्यार्थ को जानने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। ऐसा विचार करके श्री शास्त्रीजी के द्वारा उसकी हिन्दी टीका की गयी। वह शास्त्रीजी गुरु शिष्य दोनों के प्रति समर्पित थे। उसका कारण उन दोनों का शास्त्र पाण्डित्य ही नहीं, अपितु सच्चरित्र भी था। समाधि के समय पर शिष्य के द्वारा गुरु की जो सेवा की गयी वह सभी को आश्चर्यकारिणी और गुरु के प्रति श्रद्धा को बढ़ाने वाली हुई।

पद्मश्री रत्न से सम्मानित समाजसेवी महाधनी साहू श्रेयांसप्रसाद जैन एक बार बुंदेलखण्ड की तीर्थयात्रा के लिए आये। यात्रा के दौरान उन्होंने आचार्यदेव के दर्शन किए। उस समय आचार्यश्री नैनागिरि तीर्थ पर विराजमान थे। दर्शन के बाद उन्होंने आचार्यश्री से चर्चा भी की और पूछा–''जब ग्रहण का समय आता है, तब पूजन आदि क्रिया विशेष रूप से क्यों की जाती है?'' क्या मानव जीवन में भी ग्रहण का प्रभाव होता है? गुरुदेव ने कहा–ग्रहण का प्रभाव उनके ऊपर पड़ता है, जो परिग्रही होते हैं। परिग्रही जनों को ही भय होता है। अपरिग्रही तो निर्भय रहता है। इसलिए दृष्टि उपादान पर होनी चाहिए।

इस प्रकार उत्तर सुनकर वह संतुष्ट होकर अपने घर गए। घर पहुँचकर एक लेख उन्होंने लिखा जिसमें लिखा कि मेरी बुंदेलखण्ड यात्रा की दो महान् उपलब्धियाँ हैं। पहली उपलब्धि तो आचार्य विद्यासागर महाराज का दर्शन है और दूसरी तीर्थों की वन्दना।

किसी प्रसंग में शास्त्रीजी के द्वारा लिखा गया–अहो! एक लाख रुपये प्रतिमास कमाने वाले पुत्र की भी अपने पिता में वह सेवा उतने मनोयोग और तत्परता से संभव नहीं, जितनी जो विद्यासागर मुनि के द्वारा अपने गुरु की करते हुए देखी गयी। आचार्यवर्य के द्वारा एक 'पञ्चशती' नामक कृति संस्कृत भाषा में रची गयी है। उसकी संस्कृत भाषा में ही टीका उन शास्त्रीजी के द्वारा की गयी। इस कार्य में न केवल शास्त्रीजी की भक्ति और विशुद्ध भावना देखी गयी, अपितु अल्प अवधि में आचार्यदेव के रत्नत्रय तेज का प्रभाव भी अनुमानित किया गया। ग्रहण किए गए व्रतों को अच्छी तरह पालकर और साहित्य सेवा करते हुए शास्त्रीजी का जीवन व्यतीत हुआ। जीवन के मध्य में अन्य नियम भी उनके द्वारा लिए गए। अन्त समय में आचार्यदेव जब कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में विराजमान थे। तब वह परिचारिकों के द्वारा वहाँ लाए गए। रात में क्षेत्र में उनका आगमन हुआ। प्रायः एक घण्टे का समय बिताकर उनकी देह से प्राण निकल गए। देह से दूर रहते हुए भी उन्होंने हृदय से आचार्य परमेष्ठी के दोनों चरण कमलों को ध्याते हुए ही प्रयाण (गमन) किया, ऐसी सभी के मन में भावना

उत्पन्न हुई।

एक दूसरे पण्डित राजाराम थे, वह बुन्देलखण्ड में रहते थे। सर्वप्रथम उन्होंने फिरोजाबाद नगर में आचार्यदेव के दर्शन प्राप्त किए। वह भी सिद्धान्त विषय के ज्ञाता थे। आचार्यवर्य के साथ चर्चा वार्ता इत्यादि के द्वारा वह बहुत प्रभावित थे। तब उनकी आयु ९३ वर्ष पूरी हो चुकी थी। कैंसर रोग से ग्रसित होने पर भी वह जन्म जरा रोग के द्वारा दुखी हुए। ''चारित्रपालन के बिना दुख से मुक्ति नहीं'' ऐसा विचार कर उन्होंने आचार्य भगवन् के समीप सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। अन्त में १९८२ ई० में श्री नैनागिर सिद्धक्षेत्र में मुनिधर्म को स्वीकार कर समाधिसागर नाम से अलंकृत हो परलोक गए।

अनन्य भक्त विद्वानों में अग्रणी पं० जगन्मोहनलालजी सभी के परिचित थे। जिनके विषय में बहुत चर्चा यहाँ की गयी। वह ९५ वर्ष के होते हुए भी निरोगी ही थे। सौ रुपए ही अपने पास धारण करूँगा, ऐसा परिग्रह का प्रमाण उनके द्वारा किया गया था। श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में जब आचार्यदेव का वर्षायोग चल रहा था, तब ही उनके द्वारा समाधिमरण अंगीकृत किया गया। सन् १९९५ ई० में सल्लेखना हुई।

अन्य विद्वान् ताराचन्द सराफ भी थे। वह सागर नगर के निवासी थे। निश्चय मत में उनकी आस्था दृढ़ थी। उन्होंने भी ''क्रिया के बिना ज्ञान भार है'' ऐसा अनुभव कर आचार्यदेव के सान्निध्य में दसवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। पश्चात् पपौराजी क्षेत्र में वह समाधिमरण के द्वारा स्वर्ग गए। सन् १९८६ ई० की यह वार्ता है।

किसी भी समय शरीर में तीव्र ज्वर उत्पन्न हो गया। उसका क्या कारण है अथवा क्या नाम है? यह निरीक्षण करने पर भी नहीं पता चला। ''मलेरिया नाम का ज्वर है'' यह डॉक्टरों ने बताया। हर बार उसकी तीव्रता तापमान यन्त्र (थर्मामीटर) में १०७ डिग्री देखी गयी। प्रतिवर्ष में बुखार का आना तो सहनीय हो जाता है परन्तु एक वर्ष में दो बार तो महान् पुरुषों को ही सहनीय है। ग्रहण किए गए व्रतों में कितनी दृढ़ता इन श्रमण की है। यह अपनी शक्ति के द्वारा असाता कर्म का परीक्षण था। जैसी कटनी नगर में

बहुत दिनों तक मूर्च्छित-सी अवस्था रही वैसी ही पुनः सन् १९७८ ई० में नैनागिर अतिशय क्षेत्र में रही। मानो आगे मरण ही होगा, देह की इस दशा का पुनः विकास होगा, यह असम्भव-सा प्रतीत होता था। आज विपत्ति के समय पर क्या करना चाहिए, जिससे जिन आज्ञा का उल्लंघन न हो। इत्यादि विचारों की सरिता मन को उद्विग्न करती थी। अगले दिन स्वास्थ्य-लाभ होगा यह सोचकर मन का साहस बढ़ जाता था।

''उपसर्ग में, दुर्भिक्ष में, बुढ़ापे में और प्रतिकार रहित रोग में धर्म के लिए शरीर छोड़ देना आर्यों ने सल्लेखना कहा है।'' ये भगवान् के वचन मूर्च्छित होने पर भी प्रायः स्मरण करते थे।

अचानक एक दिन ''नियमसागर को बुलाओ'' यह आज्ञा आचार्यदेव ने दी। नियमसागरजी उस समय में क्षुल्लक भेष में थे और वह आचार्यदेव के समीप आ गए। ''कल केशलोंच करो'' ऐसी आज्ञा दी। यह सुनकर संघस्थ अन्य सभी जन चिन्तित हो गए। देह की ऐसी दशा में केशलोंच की आज्ञा किसलिए? अन्य क्षुल्लक भी बैठें हैं, सभी को दीक्षा क्यों नहीं देते? उनमें से एक का दीक्षा के लिए चयन आचार्यदेव के अन्तरंग अभिप्राय को स्पष्ट करता है, कि अपने पद के भार का समर्पण ही उनके मन में है, ऐसा सभी के द्वारा चिन्तन किया गया। उसी समय कपूरचन्द्र नाम के वैद्य वहाँ आये और वह दमोह जनपद के प्रमुख वैद्य थे। 'विद्यार्थी' इस उपनाम से भी जाने जाते थे। वह देह के अन्त समय में उत्पन्न होने वाले लक्षणों को भी जानते थे। उनमें से एक प्रयोग उनके द्वारा किया गया।

''खड़े गज के आकार से मध्यम अंगुलि को हस्त तल से जोड़कर अन्य चार अंगुलियाँ भूमि पर स्थापित करना चाहिए। अँगूठा आदि को क्रमशः उठाना चाहिए। दीर्घायु जीव ही अनामिका को छोड़कर सभी अंगुलियाँ उठाने के लिए समर्थ होते हैं। जिनकी आयु छह मास मात्र शेष है वे ही अनामिका को उठाने के लिए समर्थ हो सकते हैं।

यह प्रयोग उन वैद्य के द्वारा आचार्यदेव के लिए किया गया था। रुग्ण क्षीण अवस्था में भी आचार्यदेव अनामिका को भूमि से ऊपर उठाने के लिए समर्थ नहीं हुए। तब वैद्य संतुष्ट होकर के बोले-आप सभी

चिन्तित न हों। अभी आचार्यदेव दीर्घ आयुष्मान हैं। यह आचार्य भगवन् के द्वारा भी सुना गया। केशलोंच का कार्यक्रम स्वयं ही स्थगित हो गया। आचार्यदेव ने भी नहीं पूछा कि क्या हुआ केशलोंच किए अथवा नहीं।

धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त वैद्यों के समीचीन उपचार के द्वारा स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हुआ। तथापि शरीर में पहले जैसी शक्ति के अभाव से वर्षायोग के प्रारंभ में भी पठन-पाठन करने में असमर्थ हुए। इस कारण से संघ में स्वाध्याय को जारी रखने के लिए पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री को बुलाया गया। समाचार पाकर शीघ्र ही शास्त्रीजी आ गये। तब शास्त्रीजी के द्वारा श्री सर्वार्थसिद्धि नामक शास्त्र अच्छी तरह पढ़ाया गया।

उस समय सन्मतिसागर नाम के एक क्षुल्लक सागर जनपद में वर्षायोग स्थापित करके रुके थे। आचार्यदेव की ऐसी गंभीर स्थिति को सुनकर वह स्वयमेव आ गए। पश्चात् वर्षायोग पर्यन्त वह वहीं रुके। वर्षायोग के मध्य में स्याद्वाद शिक्षण शिविर आयोजित किया गया। उस शिविर में प्रतिदिन आचार्यदेव के उपदेश का क्रम चला। उनका संकलन करके वहाँ स्थित श्री वीरेन्द्र जैन (मुनि श्री क्षमासागरजी) ने 'प्रवचन पारिजात' इस नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। तब ही प्रथम बार आचार्यवर्य ने उपदेश किया-''मिथ्यात्व अकिंचित्कर है।'' जब इस प्रकार पुस्तक पर लिखा गया तो सम्पूर्ण समाज में कोलाहल हो गया।

आचार्यवर्य के शरीर में बुखार का आवेग न एक बार, न दो बार, न तीन बार अपितु आज तक बीसों बार आकर चला गया। जब सन् १९७९ ई० में जयपुर नगर में उनका प्रवास था तब वह दुष्ट ग्रह के समान पुनः आ गया। पहले से भी भयंकर वेग से अब उसकी पीड़ा उत्पन्न हुई। आधे मास से अधिक समय तक निरन्तर ज्वर बना रहा। उस समय सुशील वैद्य के द्वारा भक्तिपूर्वक सेवा-सुश्रुषा की गयी। धीरे-धीरे उसका वेग नियंत्रित हुआ। शरीर की शक्ति में जो हानि उत्पन्न हुई, वह तो शीघ्र नहीं पूरी हो सकती थी। फिर भी विहार करते हुए किशनगढ़ पंचकल्याणक में भाग लिया।

सम्यक् समाधि आधि-व्याधि और उपाधि से रहित होती है। समाधि तो दूसरे भव जाने के लिए सुखपूर्वक यात्रा है। उस समय में मनोजन्य

क्लेश, चिन्ता आदि का अवकाश नहीं होता और जो समाधिमरण चाहता है, उसे पहले समस्त संकल्प-विकल्प के जाल से मुक्त हो जाना चाहिए।

जिसने अपने जीवन के अल्पकाल में ही विशिष्ट ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्ज्ञान का सदुपयोग किया। दिगम्बर जैन साहित्य में ऐसा कोई भी कोश नहीं था, जिसमें सभी विषयों का संग्रह हो। इस कार्य की क्षतिपूर्ति जिनके द्वारा 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के चारों भागों में संकलित करके की गई है। जैसे बौद्धधर्म में धम्मपद, वैदिकधर्म में गीता, इस्लामधर्म में कुरान इत्यादि ग्रन्थों में उस उस धर्म के सारभूत तत्त्व संक्षेप से दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही जैन धर्म में सभी मतावलम्बियों का एक सारभूत ग्रन्थ नहीं है। यह भावना बाबा विनोबा के मन में उत्पन्न हुई थी और उनकी ही प्रेरणा से 'समणसुत्तं' इस धर्मग्रन्थ का संयोजन, जिनके द्वारा किया गया। जो न केवल ज्ञान-पथ पर आरूढ़ थे, अपितु अनिर्वार रोग से पीड़ित होने पर भी, जिन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की थी, वह भव्यात्मा 'जिनेन्द्रवर्णी' इस नाम से सभी के कर्ण-पथ में गोचर होते हैं (अर्थात् 'जिनेन्द्रवर्णी' इस नाम से सभी के द्वारा पुकारे जाते हैं)।

वह मनोयोग से समाधिमरण चाहते थे। एक पत्र पहले लिखा गया था, जिसमें उन्होंने अपनी समाधि के विषय में विवरण किया था। किसी कारण से वह पत्र आचार्यदेव के लिए नहीं पहुँच पाया। उस पत्र को स्वयं लेकर सन् १९८० ई० में श्री मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर आये। पहले आचार्य परमेष्ठी की भक्तिपूर्वक दर्शन-वन्दना की, पश्चात् 'मैं पहले जैसा होना चाहता हूँ' यह निवेदन किया (उनके द्वारा पहले क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की गयी थी, पश्चात् कोश निर्माण कार्य में अत्यन्त परिश्रम और क्षय रोग से पीड़ित होने से वह छोड़ दी, इस कारण से उन्होंने इस प्रकार कहा)।

आचार्यदेव बोले-आपकी भावना अति श्रेष्ठ है, जो समाधि के लिए दीक्षा को पुनः चाहते हो। परन्तु पहले ग्रन्थादि के सम्पादन कार्य से मुक्त होना चाहिए। विकल्प मुक्त की ही समाधि होती है। इन वचनों को मन में धारण कर, वह सभी कार्य भार से मुक्त होने के लिए चले गए। निश्चिन्त होकर उन्होंने एक वर्ष के बाद श्री नैनागिर सिद्धक्षेत्र में आचार्यदेव

के दर्शन किए। पुनः समाधि के लिए प्रार्थना की, तब ही ''आजीवन लेखन कार्य नहीं करूँगा'' यह प्रतिज्ञा ली। पश्चात् सागर नगर में वाचना के समय पर उनका आगमन हुआ। वहाँ की समाज, उनके ज्ञान, स्वाध्याय, प्रवचन शैली से प्रभावित हुई और वे कोई उपाधि उनको देना चाहते थे। इसलिए आचार्यदेव के द्वारा समाज को संबोधित किया गया- ''इस समय उनकी समाधि के लिए भावना है। उपाधि तो भार के समान है। इस समय पर उपाधि देना चित्त के क्षोभ के लिए है। उनके लिए क्या देना चाहिए, यह मेरा विषय है।'' ऐसे वचनामृत को पीकर सभी निराकुल हो गए।

सन् १९८२ ई० में जब वह वर्णी आचार्यदेव के पास पुनः आये, तब आचार्यवर्य के द्वारा उनको दसवीं प्रतिमा के व्रत दिए गए। श्रीगुरु की आज्ञा के अनुसार वह सागर नगर में रहने के लिए चले गए। वहाँ उनका प्रवास मौनपूर्वक ही हुआ। आचार्य वर्य के निर्देश के अनुसार उनके रोग की चिकित्सा वहाँ ही की गयी। उपचार के लिए विद्यार्थी कपूरचन्द्र वैद्य की नियुक्ति की गयी। आज तक किसी को भी क्षयरोग की उचित औषधियाँ नहीं मालूम थी। फिर भी उन वैद्य के द्वारा अपने अनुभव (के द्वारा) से अच्छी रीति (प्रकार) से उनकी सेवा की गयी। इधर जब तक रोग का उपचार किया गया, तब तक आचार्यदेव ससंघ विहार करते हुए श्री सम्मेदाचल के निचले तल में स्थित ईसरी आ गए।

श्री वर्णी को वहाँ लाया गया। सर्व संघ के सान्निध्य में सल्लेखना प्रक्रिया प्रारंभ हुई। वहाँ ही उनको पुनः क्षुल्लक दीक्षा दी गयी। इस ही सिद्धक्षेत्र में मैंने पूर्व दीक्षा यहाँ ही छोड़ी थी, पुनः यहाँ ही दीक्षित हूँ, अतः मेरे मन में महान् सन्तोष उत्पन्न हुआ है। मेरी पहले निवेदित दीर्घ भावना आज पूरी हुई। ऐसा गद्गद् स्वरों में बोलते हुए, उनकी विशुद्धि चरम सीमा पर पहुँच गयी। अब उनका नाम 'श्री सिद्धान्तसागर' ऐसा कहा गया। आज आचार्यदेव की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, ऐसा मानकर प्रसन्न मन वाले उनकी दूरदर्शिता भी स्पष्ट देखी गयी।

एक दिन अचानक श्री वर्णी को प्रतीति हुई कि मेरी चेतना लुप्त प्रायः सी है। उस समय वर्णीजी ने क्षुल्लक परमसागर (वर्तमान में मुनि

सुधासागरजी) को कहा–आचार्यदेव को बुला दो। क्षुल्लकजी ने कहा–क्या कहकर बुलाएँगे? वर्णीजी ने कहा–"मेरा समय निकट है" यह कहना। क्षुल्लकजी गए और आचार्यदेव को वहाँ साथ लेकर आ गए। आचार्यश्री ने पूछा–आप ऐसा क्यों सोच रहे हैं? वर्णीजी ने कहा–रिष्टसमुच्चय ग्रन्थ देओ। उसमें लिखी गाथा को दिखाकर अपने कान का मैल निकालकर लिखित लक्षण से मिलवाया। बाद में देखा कि अपनी दृष्टि से उन्हें अपना नासाग्र का भाग दिखाई नहीं दे रहा है। पंजे पर जल की बूँदें गिराईं किन्तु वे फैली नहीं। इन लक्षणों को देखकर कहा–"आप लोग शीघ्र चर्या के लिए जावें।" श्रीगुरु और संघस्थ सभी जन शीघ्र आहारार्थ जाकर आ गए। उसी समय आचार्यवर्य आ गए। देह का निरीक्षण कर वह बोले–आज गुरु शिष्य के संबंध को भी भूल जाना चाहिए। वर्णीजी के द्वारा कुछ भी नहीं कहा गया। पुनः आचार्यदेव बोले–यदि आप मेरे वचन सुनते हो, तो णमोकार-मंत्र का उच्चारण करो। फिर भी कोई भी प्रतिउत्तर चेष्टा के द्वारा नहीं देखा गया। पुनः आचार्यदेव ने उनके कान में 'ओम्' कहा। तब उन्होंने ओम् ओम् ऐसा दो बार उच्चारण कर तीसरी बार...आचार्यदेव के चरणों में सिर रखकर महाप्रयाण किया। यह दिन २४ मई, सन् १९८३ का था।

४२ दिन तक यह समाधि का क्रम चला। अन्त में तीन दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करके, निराकुल रीति से वह स्वर्ग गए। जैन-दर्शन में मरण समय में समाधि विधि अति उत्तम है। आचार्य विनोबा के द्वारा पहले ही सुना गया था। श्री वर्णीजी की समाधि से प्रेरित बाबा विनोबा ने अन्त में वैसी ही समाधि धारण कर, देह विसर्जन किया। यह भी विशिष्ट घटना है।

सन् १९८४ ई० में, ईसरी में मुनि श्री मल्लिसागरजी आचार्य गुरुदेव के दर्शन के लिए आये। पूर्व संबंध को छोड़कर मुनिश्री ने आचार्यदेव की विनयपूर्वक वंदना की। कुछ दिन वहाँ रुककर चारित्रशुद्धि संबंधी १२३४ व्रतों का संकल्प लिया। आठ वर्षों में कर्नाटक के डगार ग्राम में व्रत पूर्ण कर लिये। वहाँ के श्रावकों ने १२३४ मोदकों से और घृत के दीपकों से

उत्सव मनाया। जिनमंदिर में छत्र, ठोना आदि उपकरण भी प्रदान किये। इस प्रकार व्रत का उद्यापन किया। कर्मदहन के १५६ उपवास भी आपने किये। समय-समय पर अन्य भी अनेक उपवास आपने किये। अत्यधिक बलशाली होने से आपका उपवास में सहजवास हो जाता था। एक दिन के बाद आहार करना है, यह भी भूल जाते थे। जब शुद्धि के लिए श्रावक जल लाता था, तब याद आता था, कि आज आहार ग्रहण करना है। कभी-कभी आप आहार से पहले उस व्रत सम्बन्धी जाप को कर लेते थे, बाद में जल आता था, फिर आहार नहीं करते थे। इस प्रकार दो उपवास भी सहजता से हो जाते थे। श्रावकों के कहने पर इस कारण से आपने मंत्र जाप का समय बदल दिया। एक दिन में करीब ६५ कि० मी० भी आप विहार कर लेते थे।

आपके चातुर्मास–१९७६-बड़ौत (उ० प्र०), १९७७-दिल्ली साइकल मार्केट, १९७८-दिल्ली साइकल मार्केट, १९७९-दिल्ली शक्तिनगर, १९८०-जयपुर, १९८१-अजमेर, १९८२-कोटा, १९८३- सम्मेदशिखरजी, १९८४-दिल्ली शक्तिनगर, १९८५-अहमदाबाद, १९८६-सांगली (महाराष्ट्र), १९८७-कोल्हापुर (महाराष्ट्र), १९८८-ऐनापुर (कर्नाटक), १९८९-समडोली (महाराष्ट्र), १९९०-हसूर (महाराष्ट्र), १९९१-कुडचि (कर्नाटक), १९९२- समडोली (महाराष्ट्र), १९९३- नान्द्रे (महाराष्ट्र), १९९४- जयसिंगपुर (महाराष्ट्र)।

२३ दिसम्बर १९९४ को कोल्हापुर महाराष्ट्र में दो-तीन मुनिराजों के निर्यापकत्व में आपका समाधिमरण हुआ। समस्त परिग्रह को छोड़कर मरण की घोषणा करके चटाई को भी छोड़कर के भूमि पर दो दिन तक रहते हुए आप शांतिभाव से देह को छोड़कर स्वर्ग चले गये।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला विदुषांपूज्य संज्ञक दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

ग्यारहवाँ सर्ग

गुणगण नायक

सहनशील

लगभग २० बार सात–आठ डिग्री मलेरिया बुखार से गुरुदेव पीड़ित हुए हैं। पीड़ा प्राप्त होकर भी वह दीनता को प्राप्त नहीं होते हैं। न ही कभी आवश्यकों में शिथिलता करते हैं। २००३ ई० के वर्षायोग से पहले पेण्ड्राग्राम में अचानक आपको 'हरपीज' रोग हो गया। वह रोग शरीर के दांयी ओर कमर से अंगूठे तक उत्पन्न हुआ था। किसी के द्वारा भी शुद्ध औषध की व्यवस्था नहीं हुईं। कष्ट निरन्तर बढ़ता गया, फिर भी गुरुदेव निराकुलता पूर्वक रहते। कोई आकर कहता है– मेरे पास काष्ठ औषधि (जड़ीबूटी) है, जिसके प्रयोग से रोग ठीक हो जाता है और कष्ट भी दूर हो जाता है। उस व्यक्ति से उस जड़ी (लकड़ी) से कमर से लेकर पैर तक कसकर फेर दिया। अत्यन्त असहनीय उस पीड़ा को सहकर भी चिल्लाए नहीं। उस प्रयोग के बाद भी पीड़ा उसी प्रकार की बनी रही। उस रोग में हवा से भी कष्ट होता था। रात्रि में एक करवट से लेटे रहे। करवट बदलने में भी बहुत कष्ट होता था। मैंने (मुनि प्रणम्यसागर ने) पूछा–'स्वयंभू' स्तोत्र पढ़ूँ। तब कहा–नहीं, तेज आवाज सुनने से भी पीड़ा होती है। थोड़ी देर रुककर श्रीगुरु ने इशारा किया। तब धीमी आवाज में श्रीगुरु को पाठ सुनाया। तीन दिन के बाद जब रोग आवेग कम हुआ, तब सर्वोदय क्षेत्र (अमरकंटक) के लिए विहार हुआ। बहुत कष्ट के साथ किसी भी तरह क्षेत्र पर आ गए। दूसरे दिन ही केशलोंच किया। उपवास किया। पारणा के दिन ही वर्षायोग की स्थापना के उपवास का संकल्प ले लिया। इस प्रकार गुरुदेव ने बहुत कष्ट से पीड़ित शरीर होने पर भी उत्कृष्ट केशलोंच के नियम का उल्लंघन नहीं किया। उस रोग के लिए कुछ गर्म स्थान और गर्म सिकाई की आवश्यकता थी। देह से निर्मम गुरुदेव छोटे कमरे को छोड़कर बड़े हॉल में ही बैठते थे। उसी हॉल में ही रात्रि में रहते थे। ठण्डे स्थान पर रहकर वह रोग परीषह के साथ शीत परीषह को भी सहन करते थे। सुबह मुख से मुनि संघ के लिए सम्बोधन

किया–परीषह सहने से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है तथा बिना दुख की भावना के अर्जित किया गया ज्ञान, दुख आने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए यथाशक्ति मुनि को दुख से आत्मा की भावना करनी चाहिए।

स्वावलम्बी

जो उपकार करे, वह उपकरण है। मुनि के उपकरण पिच्छिका और कमण्डलु हैं। श्रावक कमण्डलु को ग्रहण करने की इच्छा करता है। कभी श्रावक न हो तो दूसरे की आवश्यकता होने से विकल्प होता है। जिससे मन में खेद उत्पन्न होता है। मुनि की चर्या सर्वथा निरालम्बन वाली होती है। तात्पर्य यह है कि स्वहस्त से करने योग्य क्रिया स्वयं करनी चाहिए। गुरुदेव अपना कमण्डलु दूसरे को नहीं देते हैं। दीर्घकालीन विहार होने पर भी स्वयं ही लेकर करके चलते हैं। एक बार एक काँटा चुभ जाने से पाद तल में छिद्र हो गया। अनेक बालू आदि कण उसमें चले गए। चलने में अत्यधिक पीड़ा होती थी। पसीने से भरे मुख पर लालिमा मन के कष्ट को प्रकट करती थी। मस्तक पर तीन रेखाएँ (त्रिवली) जमीन, कमण्डलु के भार और उष्णता के कष्ट इन तीनों को बताने ही मानो प्रकट हुई हो। शिष्यों के प्रार्थना किए जाने पर भी, वह अपने उपकरण को अपने हाथ से नहीं देते हैं। रास्ते में जब गुरुजी विश्राम के लिए बैठे तभी मल्लिसागर मुनिराज कमण्डलु लेकर आगे चले गए। जब गुरुजी उठकर चले तो कमण्डलु दिखाई नहीं दिया। एक शिष्य ने कहा–कोई उसे आगे लेकर चला गया है। गुरु ने कहा–उसके बिना हम नहीं गमन करेंगे और पुनः बैठ गए। यह देखकर कमण्डलु लाकर जब गुरु को दे दिया, तभी उन्होंने विहार किया। इस प्रकार वह कष्ट होने पर भी मनोयोग से विचलित नहीं होते हैं। वह इतने स्वावलम्बी हैं, कि माला से भी जाप नहीं जपते हैं। जब वह स्वस्थ रहते हैं, तब आत्मस्थ होकर शुद्धोपयोगी गुरु शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। शरीर में तीव्र असाता का उदय होने पर ही, कभी वह माला से सामायिक पूर्ण करते हैं। एक बार रोग से पीड़ित होने पर भी बिना प्रमाद के सामायिक कष्ट में भी करके शिष्य को कहा–''पाँच माला जप ली'' अर्थात् सामायिक कष्ट में भी कर ली। ''अत्यन्त धैर्य युक्त, निरतिचार यम, नियम पालने

वाले संयमी, प्रमादचर्या से रहित आचार्यदेव को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।''

महाप्रभावक

तप के प्रभाव से सज्जनों का सन्तुष्ट हो जाना, यह तो सामान्य बात है। दुर्जन, दुष्ट और डाकू भी यदि तप के प्रभाव से अभिभूत होते हैं, तो यह विशिष्ट बात है। वर्षायोग से कुछ पहले गुरुवर्य नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आये, तो डाकुओं की बहुलता वाला क्षेत्र होने से लोगों को चिन्ता होने लगी। कोई नग्न साधु, अपने शिष्यों के साथ चातुर्मास के लिए आये हैं, ऐसी चर्चा उस समय से ख्यात दस्यु मूरतसिंह के कानों में पहुँची। उस डाकू के आदमी शराब पीकर क्षेत्र पर आ गए। गाली गलौच करते हुए शोरगुल के साथ बिना किसी बाधा के भीतर चले गए। क्षेत्र कमेटी के प्रबन्धक लोग चिन्ता में पड़ गए। वे सभी लोग गुरुदेव के पास जाकर बैठे रहे। दो-तीन घण्टे तक वहीं बैठकर अपने आप जाते हुए कहने लगे–इस वर्ष का चातुर्मास तो यहीं होना चाहिए। उस समय गुरुदेव ने कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन उनका सरदार मूरतसिंह स्वयं आया और कहा कि आपका चातुर्मास यहीं होना चाहिए। आप किसी बात की चिन्ता न करें। किसी की सूई भी चोरी नहीं होगी, ऐसा मैं आपको वचन देता हूँ। श्रीगुरु ने वहीं पर वर्षायोग किया। एक बार नीमच नगर के यात्री लोग बस से आते हुए मार्ग भूलकर जंगल में पहुँच गए। उन डाकुओं ने उन्हें पकड़ लिया। कहाँ जा रहे हो? ऐसा पूछने पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि नैनागिरि क्षेत्र जा रहे हैं, तो स्वयं बस में बैठकर सही रास्ते पर पहुँचा कर आ गए। ऐसा बहुत बार घटित हुआ। किन्तु कोई भी अनुचित घटना नहीं घटित हुई। इसके अलावा अन्य डाकू भी गुरुदेव के दर्शन से उपकृत हुए हैं। पूजाबब्बा, चम्बल का डाकू रमेश सिकरवार आदि उनमें मुख्य हैं।

पिच्छिका का प्रभाव

'कलकत्ता' महानगर की ओर जाते समय रास्ते में एक 'बरगड़' गाँव मिला। उस गाँव में प्रवेश करके सामायिक के लिए कक्ष में पूरा संघ बैठ गया। गाँव के सभी लोग मिलकर उपसर्ग करने के लिए एकत्रित हो

गए। बाद में देखेंगे, ऐसा कहकर चले गये। यह परिस्थिति देखकर भक्त श्रावक चिन्तित हो गए। महानगर से पुलिसबल के आगमन के लिए सूचना दे दी। आचार्यवर्य कमरे से बाहर आने के लिए प्रयास किये। उस समय श्रावकों ने दरवाजे पर ताला लगा दिया। गुरु ने कहा–दरवाजा खोल दो। तब लोगों ने ताला खोल दिया। एक बलिष्ठ मुनि को आगे करके श्रीगुरु संघ सहित विहार कर दिये। रास्ते में सभी लोग अनेक हथियार लिए तैयार बैठे थे। जब गुरुजी ने उन लोगों के ऊपर दृष्टि डालकर आशीर्वाद की मुद्रा में पीछी उठायी तो सभी लोग ऐसे खड़े रह गये, जैसे गरुड़ मुद्रा से सर्पों को कीलित कर दिया हो। आगे चलकर गुरुजी मुख से निकला–''बरगड़ में गड़बड़ हुई।'' उसके बाद आचार्यदेव ने बेलगछिया मंदिर की ओर विहार किया। वहाँ मंदिर में बंगलादेश के राज्यपाल महामहिम एम॰ पी॰ शर्मा ने आकर स्वागत किया। पश्चात् आचार्यश्री खण्डगिरि-उदयगिरि की ओर विहार कर गये।

जिनवाणीभक्त

गुण तो आत्मा में स्वयं ही पूर्व संस्कार के कारण उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव की जिनवाणी के प्रति विनीत भाव सहज ही होता है। गुरुवर्य में यह विनय बहुलता से देखी जाती है। मंच पर यदि कोई गुरु के लिए शास्त्र प्रदान करता है, तो हमेशा हाथ की अंजुलि जोड़कर नमस्कार करते हैं। आते-जाते समय भी शास्त्र को देखकर पिच्छी उठाकर नमस्कार करते हैं। शास्त्र के ऊपर मूल्य नहीं लिखना चाहिए, इस प्रकार की भावना गुरुजी की सदा रहती है। शास्त्रों के व्यापार से आजीविका नहीं चलानी चाहिए। विनयपूर्वक ही शास्त्र पढ़ना चाहिए। इंटरनेट आदि से शास्त्र प्रचार करने में विनय विलीन हो जाती है, इसलिए उसमें ग्रन्थों को फीड नहीं करना चाहिए। वह सदैव स्मरण कराते हैं कि–

''विनय से पढ़ा हुआ श्रुतज्ञान यदि प्रमाद से कदाचित् विस्मरण भी हो जाए, तो भी परभव में वह स्मरण आ जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है।'' (मूलाचार ५/८९)

दृढ़संकल्पी

महान् व्यक्तियों की महानता महान् कार्य करने से ही दिखाई देती है। वह महानता दृढ़ अध्यवसाय के बिना नहीं होती है। दीक्षा के समय मञ्च के ऊपर सभी लोगों के सामने अपने हाथ से केशलोंच करना उसका पहला लक्षण है। उसके बाद भी बहुत-सी घटनाएँ घटित हुई हैं। उसमें सर्व विशिष्ट होने से एक घटना उल्लेखनीय है। श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर बड़े-बाबा आदिनाथ भगवान की मूर्ति को हटाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। गुरुदेव के मन में यह मूर्ति स्थानान्तरण का भाव सहसा नहीं आया। पहले मन्दिर के जीर्णोद्धार की वार्ता चली। उसके बाद वह परिकर बढ़ाना चाहिए, इस प्रकार की भावना हुई। फिर भावना बनी कि मूर्ति का मुख शुभ दिशा में होना चाहिए। बस, इसी भावना से नये मन्दिर में नवीन बृहद् वेदी के ऊपर बड़े बाबा की मूर्ति की स्थापना का प्रयास किया गया। संघ के सभी साधुओं और श्रावकों का विचार था कि यह कार्य तो असम्भव ही है। कार्य के प्रारम्भ में ही पुरातत्त्व विभाग का विरोध हुआ। सरकारी शासन और प्रशासन भी विरोध के लिए आ गया। उस समय पर गुरुदेव ने यह उद्घोषणा की कि बड़े बाबा के जो भक्त हैं, वे सब इस कार्य को करेंगे। जैसे भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबली की मूर्ति दक्षिण भारत में है उसी प्रकार भगवान् आदिनाथ की बुन्देलखण्ड क्षेत्र की यह विशाल प्रतिमा है। मूर्ति के अनुरूप आसन भी होना चाहिए। भगवान् को आसन प्रदान करना तो भक्तों का कर्तव्य है। इस कार्य में किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिए। भक्तों की भक्ति के प्रभाव से वह मूर्ति स्वयं ही फूल की तरह उठकर चली जाएगी, ऐसा विश्वास करना चाहिए। सर्वत्र सभी मन्दिरों में ''ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं बड़े बाबा अर्हं नमः'' इस जाप का अखण्ड पाठ प्रारम्भ हो गया। दूसरे ही दिन बुन्देलखण्ड के प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर से युवा और प्रौढ़ व्यक्ति आ गए। कई माताओं ने पुत्रों को तिलक लगाकर धर्म की रक्षा के लिए भेजा। पर्वत पर लाइन बनाकर सुरक्षा करने के लिए सब ओर भक्तों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई। पर्वत की तलहटी पर पुलिस अधीक्षक, जिला अधीक्षक, पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी अपनी-

अपनी सेना (सिपाही) सहित आकर रुक गए। आचार्यश्री के दर्शन करना है, ऐसे छल से ऊपर आने की चेष्टा करने पर भी वे लोग ऊपर नहीं आ पाए। RAF संस्था की मिलेट्री फोर्स भी भेजी गई। वे मिलेट्री के जवान भी पर्वत पर आने में समर्थ नहीं हुए। धीरे-धीरे उसी दिन ही नवीन सिंहासन पर मूर्ति की स्थापना की गई। गुरुदेव के हर्षाश्रुओं से वह परिसर पवित्र हो गया। सभी ने गुरुवर के दृढ़संकल्प की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सर्वोत्तमत्यागी

देह से भी ममत्वशून्य साधु निश्चित ही आराधक होता है। सभी इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय की विजय दुष्कर है। वह रस परित्याग करने पर भी सर्वदा स्वानुकूल भोजन नहीं चाहते हैं। नहीं चाहते हुए भी शिष्य यदि उसकी समायोजना करा देते हैं, तो भी वह उसको स्वीकार नहीं करते हैं। एक बार तीन-चार दिवस तक एक जैसा आहार ग्रहण करते रहे। तब किसी साधु के पूछने पर कहा-कोई आकर व्यवस्था करता है। गुरुदेव स्वास्थ्य के प्रतिकूल होने पर भी औषध सहजता से ग्रहण नहीं करते हैं। अतिकष्ट से कभी एक-दो दिन तक ही ग्रहण करते हैं। आहार के बाद भी पर प्रशंसा रूप दोष नहीं करते हैं। अस्वस्थ होने पर भी अदीनता और अपनी इच्छा क्या है, यह कभी भी सूचित नहीं करते हैं। किसी ने कहा है- ''जब तुम अपनी जिह्वा जीत सकते हो, तो तुम निश्चित रूप से पूरा शरीर और मन सरलता से जीत सकते हो।'' एक बार अमरकण्टक में गुरुदेव के अस्वस्थता का समाचार सुनकर उस क्षेत्र के प्रसिद्ध बाबा 'कल्याण बाबा' आये। बाबा ने किसी को पूछा-दर्शन कब होंगे? किसी ने कहा-शाम को छह बजे के बाद नहीं बोलते हैं। बाबा वापस लौट गए। दूसरे दिन वह पुनः आये। आचार्यदेव प्रतिक्रमण में लीन थे। बाबा आकर के बैठ गए। उनके साथ एक मौनी नारद मुनि, औषधि के पिटारे से सहित एक अन्य वैद्यराज भी बैठे थे। प्रतिक्रमण के बाद कल्याण बाबा ने कहा-सुना है आप अस्वस्थ हैं। फिर कहा नहीं, नहीं आप नहीं शरीर अस्वस्थ है? गुरुदेव ने कहा-हाँ! अब ठीक हैं। बाबा ने कहा-यह वैद्यराज हैं। शुद्ध काष्ठौषध की भी व्यवस्था है। यदि कुछ अनुचित न हो तो आप...। गुरुदेव ने कहा-

सर्वोदय तीर्थ, अमरकंटक में कल्याण बाबा एवं अन्य बाबाओं को सम्बोधन करते हुए आचार्यश्री

नहीं, नहीं उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। फिर बाबा ने विनय से कहा– कोई बात नहीं। यह मेरा कर्तव्य था। आप ग्रहण करें अथवा नहीं। सत्य ही कहा है– जो भोजन की गृद्धि से रहित है वही उत्तम त्यागी है।

वात्सल्यमना

उदार हृदय का श्रेष्ठ गुण वात्सल्य है। अपने से छोटों में और शिष्यों में, बड़ों का जो स्नेह होता है, वह वात्सल्य कहलाता है। सागर जिले में 'भाग्योदय क्षेत्र' पर आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज का समाधिदिवस मनाया गया। उस दिन मेरा अलाभ हो गया। अर्थात् आहार की विधि नहीं बनी। उस दिन गर्मी बहुत तीव्र थी, प्रत्याख्यान के बाद गुरुदेव के समक्ष कुछ साधु महाराज ने चर्चा की, कि आज गर्मी बहुत अधिक है। पुनः मध्याह्न बेला में आहार के लिए जाने की अनुमति दे देनी चाहिए। आचार्य देव ने कहा–नहीं, चर्या के लिए एक बार जाना/निकलना ही उचित है। इसलिए आप लोगों को विकल्प नहीं करना चाहिए। वैय्यावृत्ति करो। वह दिन तो समताभाव से निकल गया। किन्तु रात्रि में निद्रा भी दूर चली गयी। प्रातः नौ बजे चर्या समय होने पर शुद्धि करने के स्थान पर गुरुदेव स्वयं आये, मेरे पास में रुककर कहा–शिर नीचे करो। मैंने कर दिया। गुरुदेव ने अपने कमण्डलु की टोंटी से गर्म जल को मस्तक के ऊपर धारा रूप से गिराया और कहा भी कि–गर्मी ही गर्मी को मारती है। थोड़ी देर बाद रुककर पुनः कहा–अब कैसा अनुभव हो रहा है? मैंने कहा–अच्छा लग रहा है, स्फूर्ति आ गई, ऐसा कहकर हम सभी महाराज मन्दिर में चले गए।

इसी तरह कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर तीव्र गर्मी के दिनों में एक बार प्रारम्भ में अन्तराय हो गया। उसी दिन गुरुदेव ने केशलुंचन किया था। शिष्यों के आग्रह से चूने के बने हुए पुराने कमरे में गुरुदेव आ गए। साधर्मी मुनिराज मुझे भी वहीं ले आये। सामायिक हो गई। उसके बाद किसी महाराज ने मुझे लक्ष्य करके आचार्यश्री से कहा–आज महाराज को अन्तराय है। हाँ, थोड़ी रुककर कहा–रीढ़ की हड्डी पर शुद्ध घी से धीरे-धीरे मालिश करना चाहिए। गुरुदेव ने अपने सामने ही वैय्यावृत्ति करवाई। मैं तो लज्जा से नीचे दृष्टि रखकर सोचने लगा–ये गुरुदेव धन्य हैं, जो अपने उपवास के

कष्ट को कुछ न समझकर, मेरे कष्ट को दूर कर रहे हैं। मैं भी सौभाग्यशाली हूँ, जो गुरु की कृपा का पात्र बना हूँ।

कुशल चिकित्सक

सन् २००६ के वर्षायोग में मैं ज्वर से पीड़ित हो गया। बुखार के साथ कफ का प्रकोप भी बहुत तीव्र था। प्रतिदिन कफ को कम करने का उपाय करते हुए भी, कफ कम नहीं हुआ और न ही बुखार कम हुआ। वैद्य और चिकित्सकों के द्वारा परीक्षण करने पर उन्होंने 'टाइफाइड' बुखार बताया।

यह सुनकर भी गुरुदेव ने पूछा–कि तापमान कभी कम से कम एक बार भी सामान्य होता है या नहीं। मैंने परीक्षा की, सामान्य दिखा। तभी श्रीगुरु ने कहा–टाइफाइड नहीं है। चिकित्सक कहते हैं कि टाइफाइड के लक्षण ही परीक्षण में आये हैं, इसलिए वही है। औषधि का प्रयोग करने पर भी सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ। कुछ दिन बाद केशलोंच का समय आ गया। उसके लिए मैंने गुरु से आज्ञा चाही। कोई दूसरा उपाय न जानकर गुरुजी ने किसी भी तरह आज्ञा प्रदान की। दूसरे दिन केशलोंच किया। बाद में दर्शन के लिए गया तो गुरुजी ने पूछा–स्वास्थ्य कैसा है? केशलोंच करने में कैसा अनुभव हुआ? मैंने कहा–लोंच होने के बाद स्वस्थ महसूस कर रहा हूँ क्योंकि कफ पूरी तरह से निकल गया है, ऐसा प्रतीत होता है। हाँ, देखो! इस प्रकार कहा। शाम को पुनः पूछा–कैसे हो? मैंने कहा–''ठीक हूँ, आपकी कृपा से आज बुखार नहीं आया।'' कुछ मत बोलो, इस प्रकार रोक दिया, फिर पारणा के बाद पूछा–बुखार कैसा है? मैंने उत्तर दिया–बुखार नहीं आया। दूसरे दिन फिर पूछा–मैंने कहा, आज भी ठीक हूँ। तब जोर की आवाज से हर्ष के साथ कहा–''वह तो केशलोंच के साथ ही चला गया। अब निश्चिन्त रहो।'' मैंने कहा–''आपकी वाणी का ही यह प्रभाव है। सभी डॉक्टर तो डरा रहे थे। आप ही कुशल वैद्य हैं।'' इसी तरह एक बार की बात है कि कुण्डलपुर में मुझे कुछ हरारत लग रही थी, मैंने गुरुजी को बताया। थोड़ी देर बाद मुनि श्री महासागर और आनन्दसागरजी कमरे में आये और कहा कि गुरुदेव ने आपकी वैय्यावृत्ति के लिए हम दोनों

को भेजा है। यह घी है, जिसमें नमक मिला है। इसकी मालिश पैरों के तलवे में करना है, यह आज्ञा है। आधा घण्टे के बाद सेवा से जब मुझे पूर्ण स्वस्थता महसूस होने लगी, तो गुरुदेव के चरणों में नमस्कार करके कहा– ''आपके द्वारा भेजी हुई औषधि तो संजीवनी बूटी के समान थी।'' गुरुदेव मन्द-मन्द मुस्कराने लगे।

निःस्पृही आत्मा

यह सिद्धान्त है कि–''यह जिनलिंग परापेक्षी नहीं है तथा पुनर्भव का कारण नहीं है।'' ऐसे जिनलिंग को धारण कर, पर की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एकत्व भावना को भाकर के भी एकाकी विहार करते हुए साधु कष्ट का अनुभव करता है, किन्तु जो स्वात्मा में नित्य ही एकत्व की भावना करता है, वह पर के आदर की अपेक्षा नहीं करता है। एक ग्राम से दूसरे ग्राम में अथवा नगर में प्रवेश होने पर उस स्थान के लोगों का आगमन, बैण्ड-बाजादि के कोलाहल से स्वागत समाचार पत्र-पत्रिका के विषय में परिचय की आकांक्षा के बिना ही सदैव आचार्य श्रेष्ठ विहार करते हैं। कटनी निवासी पं॰ जगन्मोहनलाल शास्त्री इस प्रकार की निःस्पृहता को देखकर गुरुदेव के प्रति श्रद्धालु हो गए। पञ्चकल्याणक सदृश महोत्सव के वृहत् कार्यक्रम के होने पर भी बहुत दिन अथवा बहुत महीना पहले से तिथि निर्धारण के बिना वहाँ सान्निध्य प्रदान कर देते हैं। वह कहते हैं कि–गर्भ-जन्म कल्याणक के अवसर में मेरा कुछ कार्य नहीं है। तप कल्याणक से ही मेरा कार्य है, यह उद्‌घोषणा गुरुदेव की निरीहता को दिखाता है। बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं का बनवाना, अपने या अन्य के फोटो की संयोजना करना, मञ्च का प्रारूप बनाना इत्यादि विषय में वह कुछ भी सोचते नहीं हैं और उस विषय में वार्ता, संकेत आदि कुछ भी नहीं करते हें। वह विचारते हैं कि–

''मैंने जिनलिंग रूप जो उपकरण धारण किया है, वह मोक्ष का प्रथम चिह्न है और पिच्छि कमण्डलु को धारण करना भी बाह्य चिह्न ही उचित है। सिद्धान्त के पढ़ने से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वकीय अंतरंग लिंग है। वही भावलिंग का हेतु है, फिर अन्य शास्त्र भार से क्या?''

विहारकाल में नगरवासी भक्तिवश यह भावना करते हैं, कि गुरुवर्य मेरी नगरी में आयेंगे इसलिए वे पहले से ही नगर सज्जा कर लेते हैं। किसी दौराहे या चौराहे पर आकर वे निवेदन करते हैं। आचार्यदेव उस समय उन्हें जहाँ जाना है, वहीं जाने का संकल्प लेने के कारण उस ग्राम या नगर में नहीं जाते हैं। ऐसे प्रसंग बहुतवार घटित होते हैं। निःस्पृहता की यह पराकाष्ठा है।

एक बार १९९९ ई० के वर्षायोग के पहले आचार्यदेव ससंघ नेमावर सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र में वाचना करते हुए ठहरे थे। वर्षायोग की स्थापना से तीन दिन पहले मध्याह्न का स्वाध्याय करके वह सहसा विहार कर गए। सभी विस्मित हो गए। रात्रि विश्राम खातेग्राम में हुआ। प्रातः ससंघ की आहार चर्या हुई। सभी जन सामायिक के बाद उपदेश करवाने के लिए मञ्च आदि को किए। सभी सोचते है कि इस समय वर्षा का काल है। यदि गुरुदेव प्रवचन करेंगे तो वर्षा आ जाएगी अतः आज गुरुदेव का प्रवास यहाँ होवे। तभी सामायिक करके गुरुदेव विहार कर गए। थोड़े ही समय मे वर्षा हुई। एक पुलिया के ऊपर से सारा संघ निकल गया। उसके तुरन्त बाद ही पुलिया जल में डूब गई। इस प्रकार देखकर सभी सविस्मय श्रीगुरु की प्रशंसा करने लगे। उसके बाद विहार करके गोमट्टगिरि इंदौर नगर में प्रवेश हुआ और वर्षायोग की स्थापना अतिआनन्द और बहुत भीड़ के साथ निष्पन्न हुई।

दृढ़ संयमी

उपेक्षा संयम और अपहृतसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। उपेक्षासंयम का अभ्यासी ही अपहृत संयम में निरतिचार रूप से प्रवृत्ति करता है। जीव रक्षा निश्चय से अपहृत संयम का ध्येय है। अहिंसानिष्ठ गुरुवर ईसरी वर्षायोग में संघस्थ साधुओं के लिए प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी का अध्ययन कराते थे। उसमें आया कि निष्ठीवन (थूकना) आदि में भी दोष है, उस दोष का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, यह विषय चल रहा था, उसी के अनुसार संयम की वृद्धि के लिए थूकना, नाक का मल निकालना आदि नहीं करूँगा, इस तरह गुरुदेव ने विचार कर

लिया। उसके बाद उन्होंने फिर यह क्रिया नहीं की। सभी इन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय को जीतना अति कठिन है, ऐसा शास्त्रों में कहा है। इस कारण से गुरुदेव ने १९६९ ई० में नमक और मीठे रस का परित्याग किया। बाद में स्पर्शन इन्द्रिय को जीतने के लिए १९८५ ई० में आहारजी क्षेत्र पर संस्तर के रूप में प्रयोग आने वाली चटाई का परित्याग भी किया। धीरे-धीरे संयम की वृद्धि के लिए १९९४ ई० में रामटेक क्षेत्र पर हरी सब्जी और फलों का भी परित्याग किया। ये सभी त्याग गुरुदेव ने जीवन-पर्यंत के लिए किए हैं। पंचाचार में वीर्याचार से अपनी देह की शक्ति की परीक्षा के लिए और विशेषरूप से कर्म-निर्जरा के लिए १९९० ई० में गुरुदेव ने मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर लगातार नौ उपवास किये। अपने हाथ से दरवाजे को खोलना, साँकल या कुण्डी खोलना-लगाना भी वह नहीं करते हैं। प्रायश्चित्त ग्रंथ में लिखा है कि एक बार दरवाजा खोलने से एक उपवास का दण्ड होता है। इस प्रकार से वह संघस्थ साधुओं को समझाते हैं। उत्तरगुण रूप संयम का पालन गुरुदेव सदा दृढ़ता से करते हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी

ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करने से पर की और स्व की आपत्ति स्वयं ही विनष्ट हो जाती है। रात्रि में अपने काष्ठफलक से अन्यत्र वह गमन नहीं करते हैं। तप-साधना के फल से रात्रि में कभी भी उन्हें मल-मूत्र की बाधा उत्पन्न नहीं होती है। अखण्ड ब्रह्मचर्य दु:स्वप्न नहीं आने से घटित होता है। ब्रह्मचारी रात्रि में निशाचर जीवों के द्वारा कष्ट को प्राप्त नहीं होते हैं। नैनागिरि सिद्धक्षेत्र में वसतिका में सर्पों का आवास था, फिर भी बिना किसी बाधा के नि:शंक होकर गुरुदेव वहाँ रुकते थे। कोई सर्प तो उनके पाटे के नीचे से इधर-उधर घूमता रहता था। जब अन्य लोग आते थे तो वह दीवाल से चिपककर एक तरफ हो जाता था। उसी प्रकार चाँदखेड़ी अतिशय क्षेत्र से छबड़ा नगर आने के समय पर सूर्य मध्य मार्ग में ही अस्तंगत हो गया, इसलिए रात्रि विश्राम जंगल में ही हुआ। छबड़ा वासी समाजजन आकर के पाटे आदि की व्यवस्था कार्य में संलग्न हुए। इधर आचार्य देव निश्चिंत होकर अपने आवश्यकों में एकाग्रचित्त हो गये। रात्रि

९ उपवास के बाद पारणा करते हुए आचार्यश्री

में कोई बड़ी मूँछों वाला मनुष्य बन्दूक के साथ मेरे चारों ओर घूम रहा है, इस तरह गुरुदेव ने देखा। प्रातः वह मनुष्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उस संबंधी चर्चा करके गुरुदेव ने अल्प कौतुक के साथ नगरवासियों को कहा–क्या मंच बना रहे थे? इसी प्रकार उमाभारती पपौरा क्षेत्र (१९८६ ई०) में गुरुदेव के दर्शन के लिए आई। वह उस समय पर कथा वाचन करती थी। तब वह राजनीति से बाहर ही थी। गुरुदेव के साथ चर्चा करके उसने कहा–मैंने बहुत से संत देखे हैं, वे मुझे वासना की दृष्टि से ही देखते थे। आपके समीप मैं निर्भीक होकर निश्चिंतता से बैठती हूँ। उसके बाद वह अनेक बार आचार्य श्री का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए स्वयं आती रही।

अहिंसक

''अहिंसा जैनधर्म का शाश्वत महाप्राण है। सभी व्रतों में यह प्रथम व्रत कहा गया है। अहिंसा ही परम तप है।''

अहिंसा व्रत का पालन करने वाला, अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करता है। त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागी भी स्थावर जीवों की हिंसा से विरति के प्रति सावधान नहीं रहते हैं। आचार्यवर्य षट्काय के जीवों की रक्षा बड़े प्रयत्न के साथ करते हैं। पंच स्थावरों में अग्निकाय जीवों की विराधना वैज्ञानिक यंत्रों के प्रयोग के द्वारा बहुत प्रकार से देखी जाती है। रात्रि में आचार्य देव विद्युत का प्रयोग किए बिना ही आत्मचिन्तन करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद मन में रात्रि में करके प्रातःकाल ही लिखते हैं। पंचशती, मूकमाटी आदि ग्रंथों का अनुवाद कभी भी उन्होंने रात्रि में नहीं किया। बिजली का प्रयोग कृत-कारित-अनुमोदना से भी वह नहीं करते हैं। अग्नि में छहकाय के जीवों की विराधना निरंतर होती है। इस तरह वह संघस्थ साधुओं को समझाते हैं। अनुमोदना से और वचन-काय की चेष्टा से नित्य अहिंसा की रक्षा में उनका उपयोग रहता है।

एक बार बिलासपुर में हम भी गुरुजी के साथ शुद्धि के लिए बाहर गये। लौट करके रेलपथ के ऊपर एक इंजन खड़ा था। वहाँ और कोई दूसरा रास्ता नहीं था। कुछ समय सभी ने प्रतीक्षा की। उस इंजन का चालक यह दृश्य देख रहा था। तभी मैंने उस चालक से कहा–थोड़ा दूर हटा लो।

समीप में खड़े हुए आचार्यवर्य उसी क्षण कहने लगे– इस तरह नहीं बोलते हैं। उसके चलने में बहुत आरम्भ होगा। उसकी अनुमोदना से पाप होगा। थोड़ी देर बाद वह स्वयं ही दूर चला गया। रास्ता पाकर हम सभी निकल गये। आचार्यदेव की उस मन की सावधानी को याद करते-करते मुझे आज भी सुखद अनुभूति होती है। सत्य ही कहा है–

''जैसे-जैसे करुणा मनुष्य के हृदय में स्थिर होती जाती है, वैसे-वैसे विवेक-रूपी लक्ष्मी उत्कृष्ट प्रीति को प्रकाशित करती है।''

सत्यमहाव्रती

संयमी ही वचनों में प्रयत्नवान होते हैं। सत्य बोलना भी वचन तप है। गुरुदेव कौतुक में भी ग्राम्यभाषा नहीं बोलते हैं। महासंघनायक होकर के भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली ब्रह्मचारिणी के भी नाम वह नहीं बोलते हैं। कुछ आवश्यकता होने पर उसके ग्राम, नगर अथवा अन्य किसी पहचान के द्वारा बोलते हैं। वह उसी को आज्ञा देते हैं, जो बहुत बार आज्ञा चाहता है। क्योंकि आज्ञा भंग हो जाने पर वचन की निष्फलता हो जाती है। इस भीति से वह सत्य की रक्षा करते हैं। उनके वचन मौखर्य से रहित होते हैं। व्रत की रक्षा करने के लिए मौन ही प्रिय है। उचित ही है–

''जो मुनि बोलते हैं, वे धीर नहीं हैं और जो बुद्धिमान् मौन रहते हैं वे अतिवीर हैं। यह आर्षवचन आचार्य श्री विद्यासागर गुरु के हैं। इसलिए मौन ही परमार्थ का मित्र है।'' वह उपदेश देते हैं, कि वचन प्रदान करने में व्याकुलता होने से हिंसा होती है। गुरुदेव को वचन की सिद्धि है, इस प्रकार कई लोग कहते हैं। यह बात भी सत्यव्रत का सद्भाव होने से आश्चर्यकारी नहीं है।

सत्य ही है–''मौन से ही ऋद्धि होती है, मौन से ही वचनों की प्रसिद्धि अर्थात् वचन सिद्धि होती है, मौन से ही मुनि में व्रत होता है और सुख की वृद्धि मौन से ही होती है। चूँकि बोलना तो विशेष आकुलता का फल है, इसलिए परमार्थ का मित्र मौन है।''

यदि श्री गुरु के मुख से 'ओम् शांति' यह वचन निकल जायें, तो अमुक का कार्य अवश्य होता है ऐसा भी लोग मानते हैं।

अकिञ्चन

संघ और समाज के बीच में रहकर भी गुरुदेव सदैव स्वात्म चिंता से विहार करते हैं। १९८६ ई० का वर्षायोग स्थापना करने के लिए पपौराजी तीर्थक्षेत्र में जाते समय, मड़ावरा ग्राम में कुत्ते का स्पर्श हो जाने से अलाभ हो गया। दूसरे दिन जबलपुर निवासी राकेश, चन्द्र, संजय इन तीनों ब्रह्मचारियों (वर्तमान में क्षु० गम्भीरसागर, मुनि चन्द्रसागर, क्षु० धैर्यसागर) ने पड़गाहन किया। आहार क्रिया के बाद सामायिक करके विहार हुआ। सूर्य के अस्त हो जाने पर सायंकाल जंगल में रुक गए। वहाँ पर एक मानव आकार में गड्ढा दिखाई दिया। उसी में परिमार्जन करके बैठ गए। कोई चटाई लेकर के आया, किन्तु उसका उपयोग गुरुदेव ने नहीं किया। उन्होंने भू-शयन ही किया।

उसी प्रकार करेली ग्राम में गमन करते समय सायंकाल वारिश होने लगी। जिससे अंधकार होने लगा। रात्रि गमन के भय से रास्ते में ही गुरुदेव ठहर गए। किन्तु अँधेरे में गमन नहीं किया। संघ के साधु आगे चले गए। प्रातःकाल सभी ने प्रायश्चित्त ग्रहण किया। दमोह नगर में भी जटाशंकर पर्वत के ऊपर बालू भूमि में गुरुदेव के शरीर के ममत्व से रहित होकर शयनासन करते थे। इस अकिंचन भावना के कारण से ही सभी के हृदय में वह प्रभु के रूप में तिष्ठित हैं, ऐसा प्रतीत होता है। कहा भी है–''मैं अकिंचन हूँ। इस प्रकार का व्रत ही ईश्वरपने का कारण है। योगियों के द्वारा परमात्मा का यह उत्कृष्ट रहस्य कहा गया है।''

महादयालु

रेशिंदीगिरि जिसका कि दूसरा नाम नैनागिरि है। यह तीर्थ पार्श्वनाथ भगवान् का समवसरण आने के कारण से विख्यात है। वरदत्तादि पंच ऋषियों की यह सिद्धभूमि है। आचार्य गुरुदेव विहार करके यहाँ १९७८ ई० में आये। भगवान् पार्श्वनाथ की १४ फीट की कायोत्सर्ग प्रतिमा के दर्शन करके मन प्रसन्न हुआ तथा कहा–''यहाँ कितनी शांति है। वास्तव में यह सिद्धभूमि साधना स्थली है।'' डाकुओं की प्रधानता वाले उस क्षेत्र में कोई भी अधिक समय तक वहाँ नहीं रुकता था। आचार्यदेव की वर्षायोग के

लिए मनःस्थिति को जानकर क्षेत्र के संरक्षक सदस्य चिंता में पड़ गए। एक बार जब कुख्यात डाकू हरिसिंह को इस बात का पता चला, तो वह स्वयं आकर के उपस्थित हो गया और कहने लगा–''महाराज! आप संघ सहित निश्चिंत होकर रुकें। मेरा डाकुओं का समुदाय आपके संघ और भक्तगणों को कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाएगा। मेरे लिए सेवा का अवसर प्रदान करें।''

आचार्यदेव की सन्निधि मात्र से उस डाकू के भाव में परिवर्तन सभी के लिए आश्चर्यकारी लगा। वर्षायोग प्रारम्भ हुआ। उस क्षेत्र के जंगल में 'सिद्धशिला' इस नाम से ख्यात एक पत्थर पर आचार्यश्री ने सामायिक की क्रिया विधि सम्पन्न की। वहीं पर एक 'केरवना' (जिला दमोह) गाँव का निवासी रावखेतसिंहजू शिकार क्रीड़ा का शौकीन था। वह बन्दूक को धारण किए हुए एक हिरण का घात करने के लिए उसके पीछे दौड़ रहा था। दौड़ता-दौड़ता वह हिरण उन निर्ग्रन्थ गुरुदेव के पीछे आकर बैठ गया। मृग की यह दशा देखकर वह शिकारी सहसा आचार्यश्री के चरणों में नमस्कार करके स्वयं ही किसी की प्रेरणा के बिना यह निवेदन करने लगा– ''आज के बाद में शिकार करने का त्याग करता हूँ।'' इस तरह से मृग की रक्षा और शिकारी को शुभाशीष की प्राप्ति हुई।

महाकारुणिक संत

१७ नवम्बर, १९८२ ई० की बात है–बारह वर्ष से धर्मशाला के निकट एक कुत्ता रहता था। उसने खाद्य पदार्थ समझकर के एक दिन अग्निगोलक अस्त्र (बम) खा लिया। उसका विस्फोट हो जाने से उसका मुख क्षत-विक्षत हो गया। वह जल मंदिर के द्वार पर बैठा रहता था। वंदना के लिए आई हुईं ब्रह्मचारिणी बहनों ने उसकी दुर्दशा को देखकर उसके कष्ट का निवारण करने के लिए णमोकार मंत्र का पाठ सुनाया। उसके प्रभाव से उसकी वेदना कुछ कम हो गई, जिससे वह पर्वत पर आचार्य महोदय के प्रवचन सुनने के लिए गया। उसकी दशा को देख करके गुरुदेव ने उसे संबोधन दिया–''तुम्हारा मरण का समय आ गया है, क्या व्रत की इच्छा करते हो?'' उस कुत्ते ने सिर हिलाकर के स्वीकृति दी। णमोकार मंत्र सुनकर के उसने आगे रखे भोजन पानी के परित्याग को स्वीकार कर

लिया। धर्मशाला में उसके सामने अन्न-पान रख देने पर भी वह उसे देखता नहीं था। १९ नवम्बर के दिन पंचपरमेष्ठी के उच्चारण को सुनते हुए उसका देवलोक हो गया।

अल्पसार्थकभाषी

आचार्यदेव बहुत कम बोलते हैं, किन्तु उनका कम बोलना भी महान् अर्थ से युक्त रहता है। एक बार इन्दौर नगर का एक श्रावक कुण्डलपुर तीर्थ पर दर्शन के लिए आया। दर्शन से अभिभूत हुआ वह प्रवचन का अभिलाषी हो गया, किन्तु उस समय गुरुदेव प्रवचन न करके अपनी साधना में ही लीन रहते थे। अति साहस करके गुरु के पास जाकर वह सज्जन कहने लगे-आपसे दो शब्द सुनना चाहता हूँ। कृपा करके आप मेरी व्याकुलता को पूरी कर दें। आज मैं घर वापस लौट रहा हूँ। फिर दर्शनलाभ कब होगा? वस्तुत मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म किसका नाम है? तब गुरुदेव ने कहा-आज तक जो रुचिकर नहीं लगा, वह ही धर्म है और जो रुचिकर लगा, वह अधर्म है। गुरुदेव के सार्थक अल्पवचन सुनकर वह मन में गद्गद् हो गया।

उसी प्रकार १९७८ ई० में नैनागिरि तीर्थ पर एक विद्वान् डॉ० नेमिचन्द्र जैन दर्शनार्थ आये, जो 'तीर्थंकर' पत्रिका के सम्पादक थे। उन्होंने जिज्ञासा की, कि-आपकी आध्यात्मिकता और काव्य साधना में परस्पर घनिष्ट मित्रता देखी जाती है। वह कैसे संभव है? काव्य का सम्बन्ध लालित्य से है और अध्यात्म का सम्बन्ध अपनी आत्मा मात्र से है तभी गुरुदेव ने कहा-यद्यपि मैं अध्यात्म की रुचि रखता हूँ, फिर भी काव्य रचना के लिये जब बाहर आता हूँ, तब इससे विश्राम पाता हूँ।

उसी प्रकार जबलपुर महानगर में बाबा रामदेव दर्शन के लिए आये। निकट बैठकर उन्होंने पूछा-आपने महा शिक्षित युवाओं को दीक्षित किया है। इस महासंघ के आप आचार्य हैं। आपने इन सब को संसार से कैसे विमुख किया है, यह जानना चाहता हूँ। तब गुरुदेव ने कहा-मैंने कुछ भी नहीं किया, इनके लिए संसार रुचा नहीं, इसलिए ये यहाँ आ गए। यह उत्तर सुनकर सभी हँसने लगे और आचार्यदेव का अकृतत्व देखा।

बाबा रामदेव आचार्यश्री से तत्त्वचर्चा करते हुए

नारीशक्ति उद्धारक

नारियों में करुणा, मातृत्व, समर्पण, बुद्धि, कौशल, प्रबंधन आदि नाना गुणों का नैपुण्य स्वभाव से रहता है। उन गुणों का योजक ही दुर्लभ है। कहा भी है–कदाचित् पूर्वकर्म के कारण पति का वियोग होने पर नारियों में वैधव्य आ जाता है। वैधव्य होने पर कभी भी पुनः विवाह नहीं किया जाता है, यह भारतीय संस्कृति है। क्योंकि ''कविता, काजल, कामभाव, क्रय (खरीददारी करना), कौस्तुभ (सुगंधित पदार्थ) ये पाँच ककार भर्ता के मर जाने पर नारियों के हृदय में नहीं होने चाहिए।''

ऐसी ही एक धार्मिक, सरल नारी निष्ठा से वैधव्यपूर्ण जीवन जीती हुई सतना नगर में निवास करती थी। जब आचार्यदेव का उस नगरी में आगमन हुआ, तब गुरुदेव की निर्दोष चर्या और उत्कृष्ट ज्ञान को देखकर वह समर्पित हो गई। उसके बाद आचार्यदेव कटनी नगर आ गए। वहीं पर तीव्र असाता कर्म के उदय से आचार्यदेव अस्वस्थ हो गए। उस स्त्री 'रत्तीबाई' ने वहाँ समर्पण भाव से संघ में सेवा (आहारदानादि) की। उसकी योग्यता को देखकर गुरुदेव ने उन्हें ब्राह्मी आश्रम सागर की संचालिका नियुक्त किया। उन्हीं के कुशल नेतृत्व में ब्रह्मचारिणी बहनों की संख्या १५ से २५० हो गई। उन्हीं की प्रेरणा से २७ बहनों ने उस समय दीक्षा ग्रहण की। अपनी आयु की पूर्णता जानकर रत्तीबाई ने समाधिमरण व्रत ग्रहण किया। ७२ वर्ष की आयु में उनका सल्लेखनामरण क्षुल्लिका दीक्षा के साथ क्षुल्लिकाश्री 'आत्मश्री' नाम के साथ हुआ।

इस प्रकार की अनेक नारियाँ स्व-पर कल्याण को प्राप्त की हैं। वर्तमान में नारी संस्कारों को अच्छी तरह दृढ़ करने के लिए और उन्हें शिक्षा प्रदान करने के लिए गुरुदेव ने 'प्रतिभास्थली' नाम से एक संस्था स्थापित की। जिसमें बाल ब्रह्मचारिणी लगभग ३०० बहनें अध्यापन कार्य करके और अपने व्रतों का पालन करके स्व-पर कल्याण के द्वारा समय को सार्थक करती हुई रह रहीं हैं।

महान् अतिथि

संयम की विराधना किये बिना जो चलते हैं, वे अतिथि हैं। मन-

वचन-काय के भेद से जो संयम का परिपालन करते हैं, वह ही संयमी हैं। जो वचन संयम को धारण करते हैं, वो बहुत पहले से वचनबद्ध नहीं होते हैं, इसी कारण से श्रीगुरु पंचकल्याणक, वर्षायोग, विधानादि करने/कराने के लिए पहले से वचनबद्ध कभी नहीं होते हैं। उसी प्रकार अपनी दीक्षा, आचार्य पदारोहण आदि दिवस की प्रतीक्षा भी नहीं करते हैं और न पहले से कभी भी कुछ भी समायोजना करते हैं। कितनी ही बार तो वह दीक्षा दिवस आदि के दिन विहारकाल में ही चले जाते हैं। उस दिन के लिए शीघ्र चल करके नगर में भी नहीं आते हैं। श्रीगुरु के लिए संयम आदि दिवस भी नहीं रुचते हैं फिर जन्मदिन आदि की क्या बात? दीक्षादिवस आदि के दिनों में भी जब संघस्थ मुनि, सुधी श्रावक अत्यधिक निवेदन करते हैं, तब वह मंच पर विराजमान होते हैं, उस दिन वह अपने गुरु का स्मरण विशेष रूप से करते हैं।

''जो निर्ग्रन्थ हैं, व्रतधारी हैं, पाप और आरम्भ से रहित हैं, कब आये और कब गये इस प्रकार से जिनकी तिथि निश्चित नहीं की गई है तथा मेरा पूजा आदि सत्कार हो इस प्रकार की चिंता के बिना जो सदा प्रवृत्ति करते हैं वह अतिथि कहे जाते हैं''

हितकर ज्ञान प्रदाता

जबलपुर १९८१ ई० की यह बात है-गुरुदेव के संघस्थ साधु पठन-पाठन के लिए ग्रन्थ आदि सामग्री को भी बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करते। पढ़ने के लिए शास्त्र कैसे बुलायें, ऐसा विचार करके मुनि क्षमासागर, सुधासागर आदि साधुओं ने कोमल सिंघई नाम के श्रेष्ठी श्रावक को कहा कि आचार्य गुरुदेव के करकमलों में शास्त्र को अर्पित कर दीजिये, जिससे हम सभी साधुओं को ज्ञान प्राप्त होवे। श्रावक बन्धु ने जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश के तीन भाग समर्पित कर दिये। एक दो दिन के बाद वे ग्रन्थ साधुओं ने ले लिए। तीन दिन के बाद गुरुदेव ने पूछा-वे कोश कहाँ गये? सभी ने कह दिया-वह हम लोगों के पास हैं। गुरुदेव ने कहा- ठीक है, ठीक है, आज कक्षा में अध्ययन के लिए मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं है, आप लोग कोश पढ़कर ही ज्ञान प्राप्त करें। सभी उदास हो गए। थोड़ी देर बाद

सभी ने कोश ग्रन्थ ला करके रख दिये। तभी वात्सल्य से गुरु ने समझाया– भो साधुओ! कोश से ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है। इस समय आप लोग बाल–बुद्धि हो। आचार्यों के मूल ग्रन्थों का अभ्यास पहले करना चाहिए, उससे ही ज्ञान दृढ़ होता है। कोश तो कभी किसी समय पर विशिष्ट संदर्भ देखने के लिए पढ़ने चाहिए। सभी साधु गुरुदेव के दूरदर्शी हितकारी ज्ञान को समझकर प्रसन्न हुए।

सकारात्मक अहिंसक

धम्मो दया विसुद्धो अर्थात् धर्म दया से विशुद्ध है "**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो**" अर्थात् धर्म मंगल है, अहिंसा, संयम और तप उत्कृष्ट हैं। इत्यादि गाथा के द्वारा अहिंसा धर्म की उद्घोषणा पूर्वाचार्यों ने की है। चींटी नहीं मारना चाहिए, जीव को नहीं मारना चाहिए इत्यादि हिंसा से दूर होना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है, किन्तु अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी होता है। सभी जीवों में मैत्रीभाव, विश्वकल्याण की भावना, प्राणिमात्र के उद्धार के लिए प्रयास, मूक पशुओं के प्रति संवेदना इत्यादि। इस प्रकार चिंतन करके भी पहले ढाई हजार वर्ष बीत गये, किन्तु कोई भी कल्याणकारी योजना प्रवृत्त नहीं हुई। 'दयोदय गौशाला' इस नाम से अनेक स्थानों पर गौशालाओं में पशुओं की रक्षा की जाती है। यह गुरुदेव के आशीर्वाद का माहात्म्य है।

त्रिसंध्याभिवन्दी

आचार्यदेव चारों दिशाओं में दिग्वन्दना करने के बाद तीनों काल की सामायिक से पहले अथवा बाद में स्वयंभूस्तोत्र प्रतिदिन पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न में पढ़ते हैं। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति वह तीव्र राग भक्ति से पढ़ते हैं। नन्दीश्वर भक्ति भी तीनों संध्याओं में आप पढ़ते हैं। सामायिक पाठ सत्त्वेषु मैत्रीं...इसका भी पाठ करते हैं। इस प्रकार अर्हत्भक्ति, तीर्थंकरभक्ति, तीर्थभक्ति, चैत्यभक्ति, इत्यादि भक्तियों के प्रति तीव्र अनुराग के साथ आत्मा की विशुद्धि होती है और सब प्रकार के आस्रव रुक जाते हैं।

निर्विकल्पनिर्दोषसामायिक

श्रीगुरु तीनों संध्याओं में शुद्धोपयोग की मुख्यता से निर्विकल्प सामायिक करते हैं। उसके लिए वह नियम से अध्यात्म गाथाओं के पाठों का आलम्बन लेकर शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। उन गाथाओं में कुछ गाथायें यहाँ प्रस्तुत की जा रहीं हैं–अरस, अरूप, गंधरहित, अव्यक्त, चेतनागुण वाला, शब्दरहित, लिंग के ग्रहण से रहित और अनिर्दिष्ट संस्थान वाला जीव जानो ॥ समयसार ५४॥

यदि तुम विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट–अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो ॥ द्रव्यसंग्रह ४८॥

मेरा आत्मा ज्ञान–दर्शन लक्षण वाला है, एक है, शाश्वत है, शेष सभी बाहरी भाव संयोग लक्षण वाले हैं ॥ नियमसार १०२॥

मैं एक हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र कुछ भी मेरा नहीं है ॥ समयसार ४३॥

इस प्रकार ध्यान करने पर निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय भक्ति, निश्चय ध्यानरूप, निश्चय आवश्यकों को वह साधते हैं।

आचार्यदेव अस्वस्थ अवस्था में ही णमोकार मंत्र से जाप अनुष्ठान करते हुए सामायिक को पूर्ण करते हैं। एक बार अत्यन्त रुग्ण अवस्था में लेटे हुए ही सामायिक की, बाद में किसी को कहा–''मैंने पाँच माला पूर्णरूप से जाप कर लीं।''

ग ुरुदेव अनेक कार्यों के लिए आये हुए लोगों के कारण व्यासंग होने पर भी सामायिक काल को नहीं छोड़ते हैं। वह कभी भी अपने पास माला नहीं रखते हैं। अस्वस्थ अवस्था में यदि कोई माला दे देता है, तो उसे ग्रहण कर, पुनः छोड़ देते हैं। जाप हाथ से ही गणना करके एक बार में चौबीस मालाओं का जाप करने में समर्थ हैं। आप कहते हैं कि ''प्रमाद नहीं करना चाहिए''। प्रमाद से और निद्रा से सामायिक काल की पूर्ति करने की अपेक्षा णमोकार मंत्र की पाँच मालाओं का जाप अवश्य करना चाहिए। इस तरह वह शिष्यों को समझाते हैं।

रुचिकराध्यात्मपदावली

आचार्यदेव प्रतिदिन प्रातःकाल स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, सामायिक आवश्यक के पश्चात् स्वयंभूस्तोत्र पढ़ते हैं, उसके उपरान्त रुचिकर अध्यात्म पदावली का भी पाठ करते हैं। उसका कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत है–यह दिखाई देने वाला जगत् अचेतन है तथा चेतन अदृश्य है। अतः मैं कहाँ रोष करूँ और कहाँ संतोष करूँ। इसलिए माध्यस्थ होता हूँ ॥ समाधितंत्र ४७॥

मैं कौन हूँ? मेरे गुण किस प्रकार के हैं? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरे लिए क्या प्राप्त करने योग्य है? क्या निमित्त हैं? इस प्रकार प्रतिदिन ऊहापोह यदि नहीं होती है, तो अस्थान में बुद्धि चली जाती है ॥ क्षत्रचूड़ामणि॥

भिक्षाचर्या करो, अरण्य में वास करो,थोड़ा भोजन करो, कम बोलो, दुख सहो, निद्रा जीतो, मैत्री की भावना करो और वैराग्य को अच्छा बनाओ ॥मूलाचार॥

जिससे राग से विरक्ति हो, जिससे कल्याणमार्ग में राग उत्पन्न हो, जिससे मैत्री की प्रभावना हो, जिनशासन में वही ज्ञान कहा गया है ॥ मूलाचार २६८॥

जिससे तत्त्व का बोध हो, चित्त का निरोध हो, आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में वही ज्ञान कहा गया है ॥ मूलाचार २६७॥

जो मेरे द्वारा कुछ भी रूप देखा जाता है, वह सर्वथा कुछ नहीं जानता है और जो जानता है, उसका रूप दिखाई नहीं देता। इसलिए मैं किससे बोलूँ? ॥ समाधितंत्र ॥

जिसके शत्रु और बंधुवर्ग में समता हो, सुख और दुख में समता हो, प्रशंसा और निन्दा में समता हो, मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में समता हो, जीवन और मरण में समता हो, वह श्रमण है ॥ प्रवचनसार॥

वनवास में रहना, कायक्लेश करना, विचित्र उपवास करना, अध्ययन और मौन आदिधारण करना, समता रहित श्रमण के लिए ये क्या करेंगे? ॥ नियमसार ॥

कालजयीकृतिकार

श्रीगुरुदेव ने राष्ट्रभाषा में 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना की है।

इस महाकाव्य में जहाँ एक ओर धर्म का, दर्शन का और अध्यात्म का सार दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर आतंकवाद, दलितजनों की समस्या, अर्थलिप्सा आदि सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन लक्ष्य के साथ पारिवारिक वैयक्तिक समस्याओं का निराकरण भी दिखाई देता है। कृतिकार के द्वारा मिट्टी आदि मूक पात्रों की परस्पर में अत्यधिक मिष्ट और सार्थक चर्चा करायी गई है। इस कृति की रचना वी० नि० सं० २५१० वैशाखकृष्णा दशमी तिथि तदनुसार २५ अप्रैल, १९८४ में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर (म० प्र०) में बुधवार को प्रारम्भ हुई थी। उसके बाद वी० नि० सं० २५१३ माघशुक्ल त्रयोदशी बुधवार, तदनुसार ११ फरवरी, १९८७ को पूर्ण हुई। इस ग्रन्थ का प्रकाशन विख्यात ग्रन्थमाला भारतीय ज्ञानपीठ से १९८८ में हुआ। इसके ऊपर एक डी० लिट्, २७ पी-एच० डी० सम्बन्धी विशाल शोध प्रबन्ध, ८ एम० फिल०, २ एम० एड०, ६ एम० ए० सम्बन्धी लघुशोध प्रबन्ध शोधार्थियों के द्वारा लिखे गये है। अंग्रेजी, बांग्ला, मराठी, कन्नड़ भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है। राष्ट्रभाषा के प्रतिष्ठित साहित्यकार 'साहित्य अकादमी नई दिल्ली' संस्था के पूर्व सचिव 'डॉ० प्रभाकर माचवे' के सम्पादकत्व में अनेक समालोचकों के द्वारा विविध पक्षों को आधार बनाकर ३०० समीक्षाएँ लिखी गईं हैं। उनका प्रकाशन भी भारतीय ज्ञानपीठ संस्था से ही तीन भागों में हुआ है। प्रथम संस्करण ई० २००७ को 'मूकमाटी मीमांसा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। पूर्व संपादक का आकस्मिक निधन हो जाने से उस मीमांसा का कुशल सम्पादन विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष मूर्धन्य विद्वान् 'आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी' ने किया है।

शिथिलाचारविनाशक

मुनिराज छहकाय के जीवों की हिंसा से विरक्त होते हैं। आधुनिक युग में विद्युत् प्रयोग से उत्पन्न अनेक साधन उपलब्ध होते हैं। आचार्यदेव रात्रि में पठन, लेखन आदि क्रियायें न स्वयं करते हैं न संघस्थों को करने के लिए अनुमोदित करते हैं।

नैनागिरि शीतकाल में एक बार संघस्थ नवदीक्षित आचार्यदेव से

निवेदन करते हैं, कि रात्रि प्रतिक्रमण हम लोग रात में पढ़ नहीं सकते हैं इसलिए आपकी आज्ञा चाहते हैं, कि बाहर प्रकाश उत्पन्न करने वाली लालटेन है। क्या उसके प्रकाश में बैठकर प्रतिक्रमण कर सकते हैं? आचार्यदेव ने कहा प्रातः कर लेना चाहिए। शिष्यों ने कहा–प्रातः आप अन्य विषयों को कक्षा में पढ़ाते हैं, बाद में चर्या का समय हो जाता है, इसलिए समय नहीं मिलता है। आचार्यदेव ने कहा–आधा आहार से पहले कर लिया करो, आधा आहार के बाद कर लेना। शिष्यों ने मन में जान लिया, कि दीपक के प्रकाश में पढ़ने की आज्ञा नहीं है। सभी अपने स्थान पर चले गए। दो माह बाद वे सभी आकर कहते हैं, कि अब हमें प्रतिक्रमण याद हो गया है। दो मास सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित चाहते हैं। आचार्यदेव ने कहा अभी तो आप दो महीने के दोष के ही भागी बने हैं। यदि रात्रि में पढ़ने की आज्ञा देते, तो जीवनपर्यंत दोष लगता रहता।

अद्‌भुत चिन्तक

कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्र पर एक बार आचार्य–श्री ससंघ विराज रहे थे। बहुत तीव्र गर्मी का समय था। सुबह पहाड़ पर बड़े बाबा जिनदेव की वन्दना करने के बाद, जब नीचे उतर के आये। कुछ थके हुए थे। कमण्डलु सुखाने के लिए रख दिया। बैठे–बैठे भी चिन्तन चल रहा था। सहज ही बोल उठे–आज एक नया हाइकू बनाया है। हमने बड़ी उत्कण्ठा से पूछा–आचार्यश्री! जरूर सुनाइये। मंदिर के शिखर की ओर देखते हुए–"**तिल की ओट, पहाड़ छुपा ज्ञान/ ज्ञेय से बड़ा**" पुनः दोहराया। हमने सिर हिलाया। फिर क्षणभर रुककर हमने कहा–आचार्यश्री ज्ञान ज्ञेय से बड़ा कैसे हो सकता है? आचार्य कुन्दकुन्द ने तो प्रवचनसार में कहा है–'**णाणं णेयपमाणं**' अर्थात् ज्ञान तो ज्ञेय प्रमाण होता है। आचार्यश्री बोले–मुझे मालूम था तुम यही कहोगे। देखो! प्रवचनसार में जो लिखा है वह ज्ञेय के प्रमाण की अपेक्षा से है और यह जो हम कह रहे हैं वह ज्ञान शक्ति की अपेक्षा से है, आया समझ में और हमने हँसकर स्वीकृति प्रदान की हाँ, बिल्कुल सही। आचार्यश्री भी प्रसन्न हुए। शास्त्रों से भी ऊपर उठकर सोचने वाली चिन्तनशक्ति को समझकर हम आश्चर्यचकित रह गए।

संस्कृत रचनाकार

१. शारदा स्तुति—संस्कृत भाषा में सबसे पहले गुरुदेव ने शारदा स्तुति की रचना की। द्रुतविलम्बित छन्द में बारह पद्य काव्यों में निबद्ध यह स्तुति अति सरल और मनोरम है। यह कृति राजस्थान अजमेर जिला मदनगंज किशनगढ़ में १९७१ ई० के वर्षायोग काल के मध्य रची गई। इसका एक काव्य द्रष्टव्य है–

धर्मामृत की वर्षा करके, ताप हरो मुझे हर्षा करके।
सुखमय जीवन अथाह मम हो, धर्मामृत के प्रवाह तुम हो॥

शारदा स्तुति पूर्वक जिनवाणी आशीर्वाद प्राप्त करके आपने अनेक शतकों की रचना की, ऐसा मैं मानता हूँ। इस स्तुति का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद सिवनी मध्यप्रदेश पंचकल्याणक उत्सव से पहले १९९१ में किया गया।

२. श्रमणशतक—आचार्य गुरुदेव के द्वारा श्रुतोपयोग में मन लगाने के लिये एवं श्रमणसंस्कृति का संवर्धन करने के लिये संस्कृत भाषा में संस्कृत काव्यों की रचना की गई। आर्या छन्द में वह कृति (श्रमणशतक) ६ मई १९७४ ई० में पूर्ण हुई। इसका हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद १८ सितम्बर, १९७४ ई० में अजमेर राजस्थान में पूर्ण हुआ। मंगलाचरण में आपने लिखा है–जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं, जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मान और माया से रहित हैं, ऐसे हे वर्धमान जिनेन्द्र! मेरे कर्म और जन्म-जरा-मृत्यु रूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश को प्राप्त कराओ।

अंतिम श्लोक में भी कहा है–मैं आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में उत्पन्न ज्ञानसागरजी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूँ।

इस ग्रन्थ में आचार्य धरसेन विरचित विश्वलोचन कोश का प्रयोग बहुलता से हुआ है।

३. भावनाशतक—दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का विवरण शब्दालंकार, अनुप्रासालंकार, यमकालंकार, चित्रालंकार से अलंकृत करके इस ग्रन्थ में किया गया है। इसके प्रथम श्लोक में रत्नत्रयधारी गुरु की पूजा करके निष्काम भावना की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। वह इस प्रकार है–

हे गुरो! हे ज्ञानसागर! हे अनाश! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रयरूप हार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शांत कर मुझे निष्काम बनने में सहायक हों।

आर्या, अनुष्टुप् छन्द में यह शतक पूर्ण करके एक श्लोक में गुरु का स्मरण करके ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। वी० नि० सं० २५०१ तदनुसार ११ मई, १९७५ ई० रविवार को गंभीर नदी के तट पर स्थित श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र राजस्थान में यह शतक परिपूर्ण हुआ। इसका पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में उसी वीर निर्वाण वर्ष में १० अगस्त, १९७५ ई० रविवार को सुहागनगरी के नाम से विख्यात फिरोजाबाद नगर उत्तरप्रदेश प्रान्त के बाहुबली जिनालय में पूर्ण हुआ।

४. निरञ्जन शतक—इस ग्रन्थ में सिद्ध परमात्मा और अर्हत् परमात्मा का गुणानुवाद किया गया है। यह कृति द्रुतविलम्बित छन्द में रची गई है। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में मैं जिनदेव की स्तुति करता हूँ, यह संकल्प किया गया है। वह इस प्रकार है–

इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरंजन जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूँ।

९९ छन्दों में स्तुति को पूर्ण करके अंतिम छन्द में श्रमणशतक के समान श्लोक की रचना गुरुदेव ने की है। जिसमें स्व नाम और गुरु नाम का उल्लेख श्लेषालंकार में देखा जाता है। रचनाकाल और स्थान का परिचय

देकर बाद में पाँच श्लोकों में मंगलकामना भी की गई है। वी० नि० सं० २५०३ श्रुतपंचमी के दिन तदनुसार २३ मई, १९७७ ई० में मध्यप्रदेश दमोह जिले के कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यह शतक पूर्ण हुआ। तत्पश्चात् उसी क्षेत्र पर १६ जून, १९७७ ई० में वसन्ततिलका छन्द में इसका पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।

५. परीषहजयशतक—जिनदर्शन में जो २२ परीषहों का वर्णन प्राप्त होता है, वह वर्णन ही द्रुतविलम्बित छन्द में अभिनव भावों की संयोजना के साथ स्व-परोपकारार्थ किया गया है। परीषह विजय के लिए साम्य-भावों का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक है। उन भावों की पूर्ति के लिए यह शतक बहुत उपयोगी है। कुण्डलगिरि कोनीजी जबलपुर मध्यप्रदेश क्षेत्र पर १०७ कारिकाओं में रचित संस्कृत काव्य ज्ञानोदय छन्द में पद्यानुवाद के साथ विक्रमसंवत् २०३८ तदनुसार ७ मार्च १९८२ ई० दिन मंगलवार फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को पूर्ण हुआ। इसका एक काव्य दृष्टव्य है–

पदपूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी;
आत्मध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी॥

अर्थ— पृथ्वी पर जो सम्पत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।

६. सुनीतिशतक—विविध उपयोगी व्यवहारिक दृष्टान्तों के द्वारा उपजाति छन्द में की गई यह रचना भक्त हृदय में अद्भुत आनंद वर्षाती है। यह काव्य ग्रन्थ विहार प्रान्त के गिरीडीह नगर में ज्ञानोदय छन्द में हिन्दी भाषा के पद्यानुवाद के साथ विक्रमसंवत् २०४० तदनुसार २५ अप्रैल १९८३ ई० सोमवार चैत्रशुक्ल त्रयोदशी को पूर्ण हुआ। इसका एक पद्यकाव्य दृष्टव्य है–

बल में बालक, हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी,
तव गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनूँ तुम-सा नामी।
गिरि से गिरती सरिता पहले, पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है॥

अर्थ—हे वीर! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता- विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।

७. चैतन्यचन्द्रोदयशतक—अध्यात्म ग्रन्थ विषयक शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगों का आलम्बन लेकर यह कृति रची गई है। जो गुरुदेव के अनेक विषयों में चिन्तन की गंभीरता को प्रकट करती है। इसकी पूर्णता वीरनिर्वाणसंवत् २५२० तदनुसार १९९५ ई० श्रुतपंचमी के दिन कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र दमोह में हुई। तत्पश्चात् पद्यानुवाद की पूर्णता वी० नि० सं० २५३० तदनुसार १८ फरवरी, २००५ प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ जबलपुर के शुभारम्भ दिवस पर हुई।

८. धीवरोदय चम्पूमहाकाव्य—यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है।

बहुभाषाविद्

आचार्य गुरुदेव की प्रारम्भिक शिक्षा घर में कन्नड़ भाषा के माध्यम से नवमी कक्षा पर्यंत हुई। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी के चरण सान्निध्य में संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। मराठी भाषा तो दक्षिण प्रान्त में व्यवहार (बोलचाल) में प्रयोग की जाती है। इसलिए उसका भी ज्ञान है। श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की यात्रा के अवसर पर आपने बंगाली भाषा भी सीख ली। आपने न केवल वह भाषा सीखी अपितु उस भाषा में लेखन भी किया। प्राकृत भाषा में 'विज्जाणुवेक्खा' की रचना १९८४ ई० में जबलपुर मध्यप्रदेश में की। वर्तमान में इस ग्रन्थ की केवल आठ गाथा ही उपलब्ध हैं। वह इस प्रकार हैं—

सर्वप्रथम मैं उन पूर्व पुराणपुरुष तीर्थंकर आदिनाथ को प्रणाम करता

हूँ, जिन्होंने पुण्य तथा अपुण्यरूप पाप आदि को पूर्णतः नष्ट कर दिया है और परमगतिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लिया है ॥१॥

जिन्होंने निजकर्मरजरूपी समूह को दूर कर दिया है, जो गुणों के आगर हैं तथा जो प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी वस्तु को जानते-देखते हैं, ऐसे सर्वज्ञ/सिद्धों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

मैं उन्हीं नयनों/नेत्रों को श्रेष्ठ मानता हूँ, जिन्होंने वस्तु-स्वभाव के देखने-जानने में समर्थ जिनवचनरूपी शिव-अयन/शिव-मार्ग अथवा शिवरूप नयन प्रदान किए हैं, जो उपकरण के रूप में कहे गए हैं। वे नयन नयात्मक हैं ॥३॥

जिन्होंने इन्द्रिय-दमन कर अथवा इन्द्रिय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर निज-स्थान/आत्मा में अनुगमन किया है और संसार के जन्म-मरण रूप भ्रमण को दूर कर दिया है, उन श्रमणों को मैं नमन करता हूँ ॥४॥

जिसकी अंतिम परिणति समयसार है तथा जो संसार को शीघ्र ही समाप्ति की ओर ले जाता है, उस भावनासार/मुक्ति की मैं इच्छा करता हूँ; स्वर्गीय सुखों की नहीं ॥५॥

नीच-उच्च गोत्र नित्य नहीं हैं, विविध प्रकार के पंचेन्द्रिय सुख भी नित्य नहीं हैं। मेरा चित्त/मन या परिणाम ही नित्य है; इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए ॥६॥

जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित, जलकण शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्वर्ग-सुख भी नष्ट होने वाला है। अतः सम्यक् रूप से जाग्रत होकर संसार को पूर्णतः जानने का प्रयास करो ॥७॥

संसार से भयभीत बुधजनों और संसार सागर से पार होने वाले ऋषिजनों द्वारा, जो प्रतिभाषित है, उसकी मैं प्रतिदिन भावना भाता हूँ। यही भावना संसार-सागर से पार कराने वाली है ॥८॥

अंग्रेजी भाषा में 'मम चेतना' यह कविता लिखी गई–

Oh! Passioniessness which is my nature.
so I am myself creation teacher..........
Anent consciousness of imperfection.

Objects of pleasure are like sharp razor
Whereby the soul deciates ito danger.
My nature is free from deceitfulness.
Becuase filled with sure uprightness.
I am the store of asset of knowledge
So I am free from attachment and rage.

मेरी चेतना

मम स्वभाव रहा वीतरागपना
नियम से मैं कुशल गुरु हूँ अपना।
अपरिपूर्ण चैतन्य के साथ कहीं
वास्तविक अमिट मम संबंध नहीं।
हैं विषय कषाय से तीक्ष्ण कृपाण
तभी पीड़ित होते आतम प्राण।
कुटिलता से मम स्वभाव है दूर
पर ऋजुता से परिपूरित जरूर।
मैं उज्ज्वल बोध-धन-धाम
तो राग-रोष का फिर क्या काम?

आचार्य विद्यानंदि विरचित आप्तपरीक्षा ग्रंथ का कन्नड़ भाषा में अनुवाद विक्रमसंवत् २०२७ तदनुसार २८ अप्रेल १९७० ई० में अजमेर में विहारकाल में अनुवाद प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में यह ग्रन्थ पूर्णतः अनुपलब्ध है।

गुरुदेव ने हिन्दी भाषा में न केवल पद्यानुवाद किए हैं अपितु अनेक दोहाशतकों की रचना के साथ भक्ति गीतों का सृजन भी किया है। अपने गुरु की सल्लेखनाकाल में २२ नवम्बर १९७२ ई० से १ जून १९७३ तक कुछ भजनों की रचना की जो इस प्रकार हैं–

१. अब मैं मम मन्दिर में रहूँगा–५ पद

२. पर भव त्याग तू शीघ्र दिगम्बर–४ पद

३. मोक्ष ललना को जिया! कब वरेगा–४ पद

४. भटकन तब तक भव में जारी - ४ पद
५. बनना चाहता यदि शिवांगना पति - ४ पद
६. चेतन निज को जान जरा - ५ पद
७. समकित लाभ - ११ पद
८. अहो यही सिद्धशिला - १२ पद
९. अनागत जीवन (कविता)

बारहवाँ सर्ग

महाप्रभावक

गुरु के तप के प्रभाव से जो भव्य दीक्षित हुए हैं, उनके नाम यहाँ पर क्रम से विस्तार से कहता हूँ–मार्गशीर्ष मास के शुक्लपूर्णिमा दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०३२ सिद्धक्षेत्रों में पवित्र क्षेत्र सोनागिरि पर गुरु के पवित्र हाथों से चार क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० नियमसागरजी, **२.** क्षु० योग-सागरजी, **३.** क्षु० समयसागरजी, **४.** क्षु० प्रवचनसागरजी। ये उनके नए नाम हुए।

कार्तिक शुक्ल पंचमी शुभ मंगलवार दिन को विक्रमसंवत् २०३३ में दो क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं– **१.** क्षु० दर्शनसागरजी, **२.** क्षु० चारित्रसागरजी।

पवित्र सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर पर विक्रमसंवत् २०३४ श्रावणकृष्ण दशमीं के शुभ दिन में ऐलक श्री दर्शनसागरजी हुए। उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल नवमीं शनिवार शुभ दिन में उसी स्थान पर ऐलक श्रीयोगसागरजी हुए।

विक्रमसंवत् २०३५ नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आश्विनकृष्ण अमावस्या को ऐलक श्री नियमसागरजी हुए। उसी सिद्धक्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिककृष्ण अमावस्या (दीपावली) मंगलवार को ऐलक श्रीसमयसागरजी हुए। उसी सिद्धक्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल द्वितीया दिन गुरुवार को **१.** क्षु० श्री संयमसागरजी एवं **२.** क्षु० श्रीशीलसागरजी हुए।

विक्रमसंवत् २०३६ माघकृष्ण अष्टमी के दिन उसी सिद्धक्षेत्र पर पाँच क्षुल्लक दीक्षाएँ एवं एक ऐलक दीक्षा हुई। **१.** क्षु० श्री क्षमासागरजी, **२.** क्षु० श्री परमसागरजी (वर्तमान में मुनि सुधासागर), **३.** क्षु० श्री भावसागरजी (वर्तमान में मुनि सरलसागरजी), **४.** क्षु०श्री सुबोधसागरजी, **५.** क्षु० श्री सुगुप्ति-सागरजी। ऐलक श्री गुप्तिसागरजी। गुरु के भावों के अनुसार ये नाम क्रम से प्राप्त हुए।

उसी वर्ष, उसी स्थान पर माघकृष्ण एकादशी सोमवार के दिन दो ऐलक दीक्षाएँ हुई–**१.** ऐ० संयमसागरजी, **२.** ऐ० शीलसागरजी।

विक्रमसंवत् २०३६ चैत्रकृष्ण षष्ठी तदनुसार ८ मार्च १९८० ई० में

श्री सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की भूमि पर **प्रथम** मुनि श्री समयसागर जी दीक्षित हुए।

वैशाखकृष्ण अमावस्या विक्रमसंवत् २०३७ दिन मंगलवार को मोराजी क्षेत्र सागर में श्रमणों में **द्वितीय** श्रमण श्री योगसागरजी एवं **तृतीय** मुनि श्री नियमसागरजी ख्यात हुए।

कार्तिककृष्ण अमावस्या विक्रमसंवत् २०३७ तदनुसार ७ नवम्बर १९८० ई० में मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र दिन शुक्रवार को **१.** ऐलक श्री क्षमासागरजी हुए।

सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर १९८१ ई० में भाद्र मास मंगलवार को ऐलक सुबोधसागरजी हुए। उसी क्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल द्वितीया दिन गुरुवार को **१.** मुनि श्री चेतनसागर एवं **२.** मुनि श्री ओमसागरजी हुए।

१९८२ ई० तदनुसार विक्रमसंवत् २०३८ फाल्गुनकृष्ण द्वितीया तिथि में अतिशयक्षेत्र बीनाबारह पर ऐलक श्री भावसागरजी हुए।

वैशाख कृष्ण सप्तमी विक्रमसंवत् २०३९ तदनुसार १५ अप्रैल, १९८२ ई० मोराजी क्षेत्र सागर में **१.** ऐलक श्री परमसागरजी हुए।

नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर विक्रमसंवत् २०३९ भाद्रशुक्ल द्वितीया तदनुसार २० अगस्त १९८२ को तीन मुनि दीक्षाएँ हुईं –**१.** मुनि श्री क्षमासागरजी, **२.** मुनि श्री गुप्तिसागरजी, **३.** मुनि श्री संयमसागरजी।

विक्रमसंवत् २०३९ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी तदनुसार १० फरवरी १९८३ को श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखरजी पर सात ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐलक श्री निःशंकसागरजी, **२.** ऐलक श्री दयासागरजी, **३.** ऐलक श्री समतासागरजी, **४.** ऐलक श्री स्वभावसागरजी, **५.** ऐलक श्री समाधिसागरजी, **६.** ऐलक श्री करुणासागरजी, **७.** ऐलक श्री अभयसागरजी।

विक्रमसंवत् २०४० आश्विनकृष्ण तृतीया तदनुसार २५ सितम्बर १९८३ दिन रविवार पवित्र स्थान ईसरी (बिहार) में पाँच मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री सुधासागरजी, **२.** मुनि श्री समतासागरजी, **३.** मुनि श्री स्वभावसागरजी, **४.** मुनि श्री समाधिसागरजी, **५.** मुनि श्री सरल–सागरजी।

विक्रमसंवत् २०४० कार्तिकशुक्ल पंचमी तदनुसार २१ नवम्बर १९८२

दिन बुधवार को जो पहले जिनेन्द्रवर्णी थे वह **१.** क्षुल्लक श्री सिद्धान्तसागरजी हुए।

विक्रमसंवत् २०४२ आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार १ जुलाई १९८५ में आहारजी क्षेत्र पर **१.** मुनि श्री वैराग्यसागरजी हुए।

कार्तिककृष्ण दशमी दिन शुक्रवार उसी वर्ष उसी स्थान पर नौ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रमाणसागरजी, **२.** क्षु० श्री प्रशमसागरजी, **३.** क्षु० श्री ध्यानसागरजी, **४.** क्षु० श्री सम्यक्त्वसागरजी, **५.** क्षु० श्री संवेगसागरजी, **६.** क्षु० श्री मंगलसागरजी, **७.** क्षु० श्री वात्सल्यसागरजी, **८.** क्षु० श्री आर्जवसागरजी, **९.** क्षु० श्री मार्दवसागरजी।

उसी वर्ष द्रौणगिरि सिद्धक्षेत्र पर मार्गशीर्षशुक्ल चतुर्थी तदनुसार १५ दिसम्बर, १९८५ को क्षुल्लक श्री सौम्यसागरजी हुए। विक्रमसंवत् २०४३ माघशुक्ल द्वादशी दिन मंगलवार तदनुसार १० फरवरी १९८७ सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर १२ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रसन्नसागरजी, **२.** क्षु० श्री पवित्रसागरजी, **३.** क्षु० श्री निश्चयसागरजी, **४.** क्षु० श्री नयसागरजी, **५.** क्षु० श्री विनयसागरजी, **६.** क्षु० श्री गंभीरसागरजी, **७.** क्षु० श्री धैर्यसागरजी, **८.** क्षु० श्री निसर्गसागरजी, ९. क्षु० श्री चंद्रसागरजी **१०.** क्षु० श्री उदारसागरजी, **११.** क्षु० श्री उत्तमसागरजी, **१२.** क्षु० श्री निर्भयसागरजी। इसी के साथ ११ आ० दीक्षाएँ हुईं जिनके नाम गुरुदेव ने इस प्रकार कहे– **१.** आ० श्री गुरुमतिजी, **२.** आ० श्री दृढ़मतिजी, **३.** आ० श्री मृदुमतिजी, **४.** आ० श्री ऋजुमतिजी, **५.** आ० श्री तपोमतिजी, **६.** आ० श्री सत्यमतिजी, **७.** आ० श्री गुणमतिजी, **८.** आ० श्री जिनमतिजी, **९.** आ० श्री निर्णयमतिजी, **१०.** आ० श्री उज्ज्वलमतिजी, **११.** आ० श्री पावनमतिजी।

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०४४ तदनुसार १० जुलाई १९८७ थूवौनजी अतिशय क्षेत्र पर सात ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री प्रमाणसागरजी, **२.** ऐ० श्री प्रशमसागरजी, **३.** ऐ० श्री सम्यक्त्वसागरजी, **४.** ऐ० श्री संवेगसागरजी, **५.** ऐ० श्री मंगलसागरजी, **६.** ऐ० श्री आर्जव-सागरजी, **७.** ऐ० श्री मार्दवसागरजी।

चैत्रशुक्लत्रयोदशी विक्रमसंवत् २०४५ दिन गुरुवार तदनुसार ३१

मार्च १९८८ (महावीर जयंती) सिद्धक्षेत्र सोनागिरि पर आठ मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री प्रमाणसागरजी, २. मुनि श्री आर्जवसागरजी, ३. मुनि श्री मार्दवसागरजी, ४. मुनि श्री पवित्रसागरजी, ५. मुनि श्री उत्तमसागरजी, ६. मुनि श्री चिन्मयसागरजी, ७. मुनि श्री पावनसागरजी, ८. मुनि श्री सुखसागरजी।

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी विक्रमसंवत् २०४५ दिन गुरुवार तदनुसार २८ जुलाई १९८८ अतिशयक्षेत्र पिसनहारी मढ़िया जबलपुर में चार ऐलक दीक्षाएँ हुईं। १. ऐ० श्री वात्सल्यसागरजी, २. ऐ० श्री निश्चयसागरजी, ३. ऐ० श्री उदारसागरजी, ४. ऐ० श्री निर्भयसागरजी।

श्रावणशुक्ल षष्ठी विक्रमसंवत् २०४६ दिन सोमवार तदनुसार ७ अगस्त १९८९ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में पुनः आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। १. आ० श्री प्रशांतमतिजी, २. आ० श्री पूर्णमतिजी, ३. आ० श्री अनंतमतिजी, ४. आ० श्री विमलमतिजी, ५. आ० श्री शुभ्रमतिजी, ६. आ० श्री कुशलमतिजी, ७. आ० श्री निर्मलमतिजी, ८. आ० श्री साधुमतिजी। फिर दो दिन बाद श्रावणशुक्ल सप्तमी दूसरी दिन बुधवार तदनुसार ९ अगस्त १९८९ को उसी स्थान पर आ० श्री शुक्लमतिजी दीक्षित हुईं।

फाल्गुनकृष्णदशमी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०४६ तदनुसार २० फरवरी १९९० नरसिंहपुर मध्यप्रदेश पाँच आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। १. आ० श्री साधनामतिजी, २. आ० श्री विलक्षणमतिजी, आ० श्री धारणामतिजी, ४. आ० श्री प्रभावनामतिजी, ५. आ० श्री भावनामतिजी। तीन दिन के बाद २३ फरवरी १९९० उसी स्थान पर आ० श्री चिन्तनमतिजी एवं आ० श्री वैराग्यमतिजी की दीक्षा हुई।

वैशाखशुक्ल तृतीया दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०४८ तदनुसार १६ मई १९९१ मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर सात क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। १. क्षु० श्री सिद्धान्तसागरजी २. क्षु० श्री संपूर्णसागरजी, ३. क्षु० श्री अपूर्वसागरजी, ४. क्षु० श्री अक्षयसागरजी, ५. क्षु० श्री रयणसागरजी, ६. क्षु० श्री प्रशांतसागरजी, ७. क्षु० श्री पूर्णसागरजी।

आषाढशुक्ल चतुर्दशी विक्रमसंवत् २०४८ दिन गुरुवार तदनुसार

२५ जुलाई १९९१ सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि पर **एक** क्षु॰ नम्रसागरजी की दीक्षा हुई।

उसी क्षेत्र पर उसी वर्ष उसी दिन आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी २५ जुलाई १९९१ को आठ ऐलक दीक्षाएँ भी हुईं। **१.** ऐ॰ श्री विनयसागरजी **२.** ऐ॰ श्री सिद्धान्तसागरजी, **३.** ऐ॰ श्री संपूर्णसागरजी, **४.** ऐ॰ श्री अपूर्वसागरजी, **५.** ऐ॰ श्री अक्षयसागरजी, **६.** ऐ॰ श्री रयणसागरजी, **७.** ऐ॰ श्री प्रशांतसागरजी, **८.** ऐ॰ श्री पूर्णसागरजी।

आषाढ़शुक्ल पंचमी दिन शनिवार विक्रम संवत् २०४९ तदनुसार ४ जुलाई १९९२ सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुरजी पर १५ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ॰ श्री आदर्शमतिजी, **२.** आ॰ श्री दुर्लभमतिजी, **३.** आ॰ श्री अंतरमतिजी, **४.** आ॰ श्री अविचलमतिजी, **५.** आ॰ श्री अनुनयमतिजी, **६.** आ॰ श्री अनुग्रहमतिजी, **७.** आ॰ श्री अक्षयमतिजी, **८.** आ॰ श्री अमूर्तमतिजी, **९.** आ॰ श्री अखण्डमतिजी, **१०.** आ॰ श्री आलोकमतिजी, **११.** आ॰ श्री अनुपममतिजी, **१२.** आ॰ श्री अपूर्वमतिजी, **१३.** आ॰ श्री अनुत्तरमतिजी, **१४.** आ॰ श्री अनर्घमतिजी, **१५.** आ॰ श्री अतिशयमतिजी। तीन दिन बाद ७ जुलाई १९९२ को दो **१.** आ॰ श्री अनुभवमतिजी एवं **२.** आ॰ श्री आनंदमतिजी की दीक्षा हुई।

माघशुक्ल तृतीया दिन सोमवार विक्रम संवत् २०४९ तदनुसार २५ जनवरी १९९३ पिसनहारी मढ़ियाजी जबलपुर में २५ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। श्री गुरु के मुख से उनका नामन्यास इस प्रकार किया गया। **१.** आ॰ श्री सिद्धान्तमतिजी, **२.** आ॰ श्री अकलंकमतिजी, **३.** आ॰ श्री निकलंकमतिजी **४.** आ॰ श्री आगममतिजी **५.** आ॰ श्री स्वाध्यायमतिजी **६.** आ॰ श्री नम्रमतिजी **७.** आ॰ श्री विनम्रमतिजी **८.** आ॰ श्री अतुलमतिजी **९.** आ॰ श्री विशदमतिजी **१०.** आ॰ श्री पुराणमतिजी **११.** आ॰ श्री विनतमतिजी **१२.** आ॰ श्री विपुलमतिजी **१३.** आ॰ श्री मधुरमतिजी **१४.** आ॰ श्री प्रसन्नमतिजी **१५.** आ॰ श्री प्रशममतिजी **१६.** आ॰ श्री अधिगममतिजी **१७.** आ॰ श्री मुदितमतिजी **१८.** आ॰ श्री सहजमतिजी **१९.** आ॰ श्री अनुगममतिजी **२०.**आ॰ श्री अमंदमतिजी **२१.** आ॰ श्री अभेदमतिजी **२२.** आ॰ श्री

एकत्वमतिजी **२३.** आ० श्री कैवल्यमतिजी **२४.** आ० श्री संवेगमतिजी **२५.** आ० श्री निर्वेगमतिजी।

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०५१ तदनुसार २१ जुलाई १९९४ अतिशयक्षेत्र रामटेकजी नागपुर में **एक** ऐलक नम्रसागरजी की दीक्षा हुई।

आश्विनशुक्ल चतुर्दशी दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०५२ तदनुसार ७ अक्टूबर, १९९५ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में तीन क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री निर्वेगसागरजी, **२.** क्षु० श्री विनीतसागरजी, **३.** क्षु० श्री निर्णयसागरजी।

वैशाखशुक्ल तृतीया दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार २० अप्रैल १९९६ तारंगाजी सिद्धक्षेत्र में सात क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रज्ञासागरजी (वर्तमान में मुनि अजितसागरजी), **२.** क्षु० श्री प्रबुद्धसागरजी, **३.** क्षु० श्री प्रशस्तसागरजी, **४.** क्षु० श्री प्रवचनसागरजी, **५.** क्षु० श्री पुण्यसागरजी, **६.** क्षु० श्री प्रभावसागरजी, **७.** क्षु० श्री पायसागरजी।

श्रावणशुक्ल सप्तमी दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार २१ अगस्त, १९९६ अतिशयक्षेत्र महुआजी में चार ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री निर्वेगसागरजी, **२.** ऐ० श्री विनीतसागरजी, **३.** ऐ० श्री निर्णयसागरजी, **४.** ऐ० श्री प्रबुद्धसागरजी ॥६३-६७॥

मार्गशीर्षशुक्ल दशमी दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार १९ दिसम्बर १९९६ सिद्धक्षेत्र गिरनारजी में पाँच ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री प्रशस्तसागरजी, **२.** ऐ० श्री प्रवचनसागरजी, **३.** ऐ० श्री पुण्यसागरजी, **४.** ऐ० श्री प्रभावसागरजी, **५.** ऐ० श्री पायसागरजी।

चैत्रशुक्ल अष्टमी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार १ अप्रैल, १९९७ सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट **१.** ऐलक शैलसागरजी (वर्तमान में मुनि ऋषभसागरजी) की दीक्षा हुई।

ज्येष्ठशुक्ल एकम दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ६ जून, १९९७ सिद्धक्षेत्र सिद्धोदय नेमावर में २९ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री सूत्रमतिजी, **२.** आ० श्री सुनयमतिजी, **३.** आ० श्री सकलमतिजी, **४.** आ० श्री सविनयमतिजी, **५.** आ० श्री सतर्कमतिजी, **६.** आ० श्री

संयममतिजी, ७. आ० श्री समयमतिजी, ८. आ० श्री शोधमतिजी, ९. आ० श्री शाश्वतमतिजी, १०. आ० श्री सरलमतिजी, ११. आ० श्री शीलमतिजी, १२. आ० श्री सुशीलमतिजी, १३. आ० श्री शैलमतिजी, १४. आ० श्री शीतलमतिजी, १५. आ० श्री श्वेतमतिजी १६. आ० श्री सारमतिजी, १७. आ० श्री सत्यार्थमतिजी, १८. आ० श्री सिद्धमतिजी, १९. आ० श्री सुसिद्धमतिजी, २०. आ० श्री विशुद्धमतिजी, २१. आ० श्री साकारमतिजी, २२. आ० श्री सौम्यमतिजी, २३. आ० श्री सूक्ष्ममतिजी, २४. आ० श्री सुशांतमतिजी, २५. आ० श्री शांतमतिजी, २६. आ० श्री सदयमतिजी, २७. आ० श्री समुन्नतमतिजी, २८. आ० श्री शास्त्रमतिजी, २९. आ० श्री सुधारमतिजी।

श्रावणशुक्ल षष्ठी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ९ अगस्त १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में ७ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। १. क्षु० श्री पुराणसागरजी, २. क्षु० श्री प्रयोगसागरजी, ३. प्रबोधसागरजी ४. प्रणम्यसागरजी, ५. क्षु० श्री प्रसादसागरजी, ६. क्षु० श्री प्रभातसागरजी, ७. क्षु० श्री परीतसागरजी (वर्तमान में मुनि सम्भवसागरजी)।

श्रावणशुक्ल पूर्णिमा दिन सोमवार (रक्षाबंधन) विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार १८ अगस्त १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर १४ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। १. आ० श्री उपशांतमतिजी, २. आ० श्री अकम्पमतिजी, ३. आ० श्री अमूल्यमतिजी, ४. आ० श्री आराध्यमतिजी, ५. आ० श्री ओंकारमतिजी, ६. आ० श्री उन्नतमतिजी, ७. आ० श्री अचिन्तमतिजी, ८. आ० श्री अलोल्यमतिजी, ९. आ० श्री अनमोलमतिजी, १०. आ० श्री अचिंत्यमतिजी, ११. आ० श्री उद्योतमतिजी, १२. आ० श्री आज्ञामतिजी, १३. आ० श्री अचलमतिजी, १४. आ० श्री अवगममतिजी।

आश्विनशुक्ल पूर्णिमा दिन गुरुवार (शरदपूर्णिमा) विक्रम संवत् २०५४ तदनुसार १६ अक्टूबर १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में १० मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री अपूर्वसागरजी, २. मुनि श्री प्रशांतसागरजी, ३. मुनि श्री निर्वेगसागरजी, ४. मुनि श्री विनीतसागरजी, ५. मुनि श्री निर्णयसागरजी, ६. मुनि श्री प्रबुद्धसागरजी, ७. मुनि श्री प्रवचनसागरजी, ८. मुनि श्री

पुण्यसागरजी, ९. मुनि श्री पायसागरजी, १०. मुनि श्री प्रसादसागरजी।

पौषशुक्ल सप्तमी दिन सोमवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ५ जनवरी १९९८ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में ६ ऐलक दीक्षाएँ हुईं। १. ऐ० श्री प्रज्ञासागरजी २. ऐ० श्री पुराणसागरजी, ३. ऐ० श्री प्रयोगसागरजी, ४. प्रबोधसागरजी, ५. ऐ० श्री प्रणम्यसागरजी, ६. ऐ० श्री प्रभातसागरजी।

माघशुक्ल पूर्णिमा दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ११ फरवरी १९९८ श्री मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र बैतूल में ९ मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री अभयसागरजी, २. मुनि श्री अक्षयसागरजी, ३. मुनि श्री प्रशस्तसागरजी, ४. मुनि श्री पुराणसागरजी, ५. मुनि श्री प्रयोगसागरजी, ६. मुनि श्री प्रबोधसागरजी, ७. मुनि श्री प्रणम्यसागरजी, ८. मुनि श्री प्रभातसागरजी, ९. मुनि श्री चंद्रसागरजी।

वैशाखशुक्ल सप्तमी दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०५६ तदनुसार २२ अप्रैल १९९९ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में २३ मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री ऋषभसागरजी, २. मुनि श्री अजितसागरजी, ३. मुनि श्री संभवसागरजी, ४. मुनि श्री अभिनंदनसागरजी, ५. मुनि श्री सुमतिसागरजी, ६. मुनि श्री पद्मसागरजी, ७. मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी, ८. मुनि श्री चंद्रप्रभसागरजी, ९. मुनि श्री पुष्पदंतसागरजी, १०. मुनि श्री शीतलसागरजी, ११. मुनि श्री श्रेयांससागरजी, १२. मुनि श्री पूज्यसागरजी, १३. मुनि श्री विमलसागरजी, १४. मुनि श्री अनंतसागरजी, १५. मुनि श्री धर्मसागरजी, १६. मुनि श्री शांतिसागरजी, १७. मुनि श्री कुंथुसागरजी, १८. मुनि श्री अरहसागरजी, १९. मुनि श्री मल्लिसागरजी, २०. मुनि श्री सुव्रतसागरजी, २१. मुनि श्री नमिसागरजी, २२. मुनि श्री नेमिसागरजी, २३. मुनि श्री पार्श्वसागरजी।

श्रावणशुक्ल षष्ठी दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०६१ तदनुसार २१ अगस्त २००४ दयोदय तीर्थ तिलवाराघाट जबलपुर में २५ मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री वीरसागरजी, २. मुनि श्री क्षीरसागरजी, ३. मुनि श्री धीरसागरजी, ४. मुनि श्री उपशमसागरजी, ५. मुनि श्री प्रशमसागरजी, ६. मुनि श्री आगमसागरजी, ७. मुनि श्री महासागरजी, ८. मुनि श्री विराट-सागरजी, ९. मुनि श्री विशालसागरजी, १०. मुनि श्री शैलसागरजी, ११.
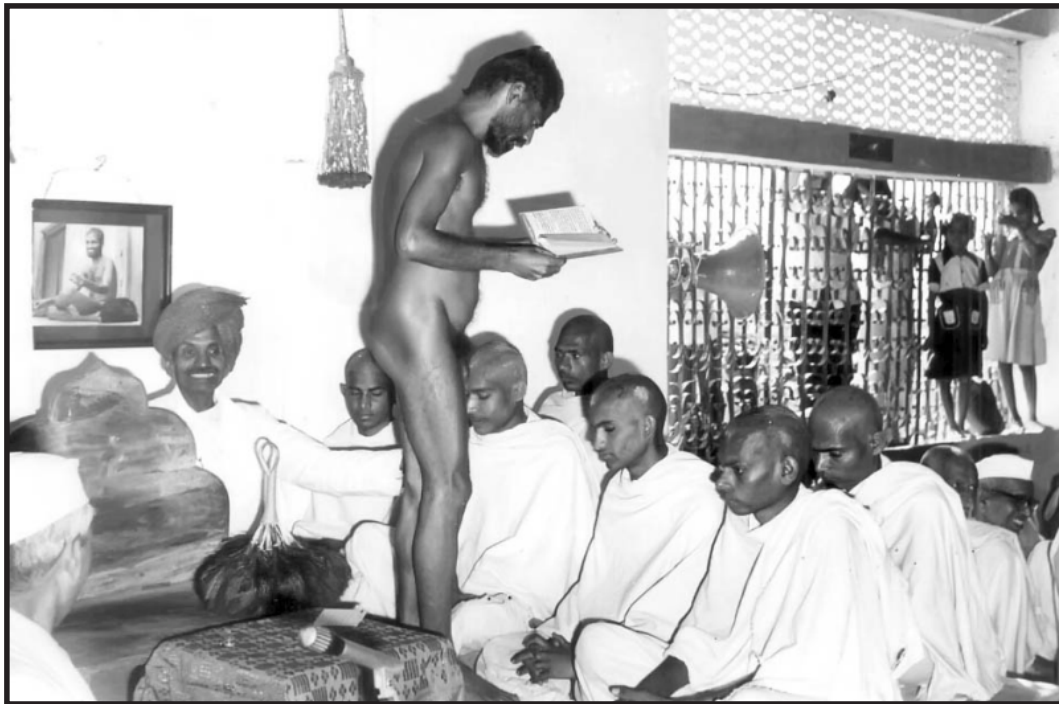
दीक्षा के संस्कार देते हुए आचार्यश्री

मुनि श्री अचलसागरजी, १२. मुनि श्री पुनीतसागरजी, १३. मुनि श्री वैराग्यसागरजी, १४. मुनि श्री अविचलसागरजी, १५. मुनि श्री विशदसागरजी, १६. मुनि श्री धवलसागरजी, १७. मुनि श्री सौम्यसागरजी, १८. मुनि श्री अनुभवसागरजी, १९. मुनि श्री दुर्लभसागरजी, २०. मुनि श्री विनम्रसागरजी, २१. मुनि श्री अतुलसागरजी, २२. मुनि श्री भावसागरजी, २३. मुनि श्री आनंदसागरजी, २४. मुनि श्री अगम्यसागरजी, २५. मुनि श्री सहजसागरजी।

माघशुक्ल पूर्णिमा दिन सोमवार विक्रमसंवत् २०६२ तदनुसार १३ फरवरी २००६ श्रीकुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर ५८ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। १. आ॰ श्री स्वस्थमतिजी, २. आ॰ श्री तथ्यमतिजी, ३. आ॰ श्री वात्सल्यमतिजी, ४. आ॰ श्री पथ्यमतिजी, ५. आ॰ श्री जागृतमतिजी, ६. आ॰ श्री कर्त्तव्यमतिजी, ७. आ॰ श्री गंतव्यमतिजी, ८. आ॰ श्री संस्कारमतिजी, ९. आ॰ श्री निष्काममतिजी, १०. आ॰ श्री विरतमतिजी, ११. आ॰ श्री तथामतिजी, १२. आ॰ श्री उदारमतिजी, १३. आ॰ श्री विजितमतिजी, १४. आ॰ श्री सन्तुष्टमतिजी, १५. आ॰ श्री निकटमतिजी, १६. आ॰ श्री संवरमतिजी, १७. आ॰ श्री ध्येयमतिजी, १८. आ॰ श्री आत्ममतिजी, १९. आ॰ श्री चैत्यमतिजी, २०. आ॰ श्री पृथ्वीमतिजी, २१. आ॰ श्री निर्मदमतिजी, २२. आ॰ श्री पुनीतमतिजी, २३. आ॰ श्री विनीतमतिजी, २४. आ॰ श्री मेरूमतिजी, २५. आ॰ श्री आप्तमतिजी, २६. आ॰ श्री उपशममतिमतिजी, २७. आ॰ श्री ध्रुवमतिजी, २८. आ॰ श्री असीममतिजी, २९. आ॰ श्री गौतममतिजी, ३०. आ॰ श्री संयतमतिजी, ३१. आ॰ श्री अगाधमतिजी, ३२. आ॰ श्री निर्वाणमतिजी, ३३. आ॰ श्री मार्दवमतिजी, ३४. आ॰ श्री मंगलमतिजी, ३५. आ॰ श्री परमार्थमतिजी, ३६. आ॰ श्री ध्यानमतिजी, ३७. आ॰ श्री विदेहमतिजी, ३८. आ॰ श्री अवायमतिजी, ३९. आ॰ श्री पारमतिजी, ४०. आ॰ श्री आगतमतिजी, ४१. आ॰ श्री श्रुतमतिजी, ४२. आ॰ श्री अदूरमतिजी, ४३. आ॰ श्री स्वभावमतिजी, ४४. आ॰ श्री धवलमतिजी, ४५. आ॰ श्री विनयमतिजी, ४६. आ॰ श्री समितिमतिजी, ४७. आ॰ श्री अमितमतिजी, ४८. आ॰ श्री परममतिजी, ४९. आ॰ श्री चेतनमतिजी, ५०. आ॰ श्री

निसर्गमतिजी, **५१.** आ० श्री मननमतिजी, **५२.** आ० श्री अविकारमतिजी, **५३.** आ० श्री चारित्रमतिजी, **५४.** आ० श्री श्रद्धामतिजी, **५५.** आ० श्री उत्कर्षमतिजी, **५६.** आ० श्री संगतमतिजी, **५७.** आ० श्री लक्ष्यमतिजी, **५८.** आ० श्री भक्तिमतिजी।

श्रावणशुक्ल चतुर्थी दिन विक्रमसंवत् तदनुसार १० अगस्त २०१३ अतिशयक्षेत्र रामटेकजी में २४ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री निस्वार्थसागरजी, **२.** मुनि श्री निर्दोषसागरजी, **३.** मुनि श्री निर्लोभसागरजी, **४.** मुनि श्री नीरोगसागरजी, **५.** मुनि श्री निर्मोहसागरजी, **६.** मुनि श्री निष्पक्षसागरजी, **७.** मुनि श्री निस्पृहसागरजी, **८.** मुनि श्री निश्चलसागरजी, **९.** मुनि श्री निष्कंपसागरजी, **१०.** मुनि श्री निस्पंदसागरजी, **११.** मुनि श्री निरामय-सागरजी, **१२.** मुनि श्री निरापदसागरजी, **१३.** मुनि श्री निराकुलसागरजी, **१४.** मुनि श्री निरुपमसागरजी, **१५.** मुनि श्री निष्कामसागरजी, **१६.** मुनि श्री निरीहसागरजी, **१७.** मुनि श्री निस्सीमसागरजी, **१८.** मुनि श्री निर्भीकसागरजी, **१९.** मुनि श्री नीरागसागरजी, **२०.** मुनि श्री नीरजसागरजी, **२१.** मुनि श्री निकलंकसागरजी, **२२.** मुनि श्री निर्मदसागरजी, **२३.** मुनि श्री निसर्गसागरजी, **२४.** मुनि श्री निस्संगसागरजी।

कार्तिककृष्ण अष्टमी दिन विक्रमसंवत् तदनुसार १६ अक्टूबर २०१४ शीतलधाम विदिशा नगरी में चार मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री शीतलसागरजी, **२.** मुनिश्री शाश्वतसागरजी, **३.** मुनि श्री समरससागरजी, **४.** मुनि श्री श्रमणसागरजी।

आषाढ़शुक्ल पूर्णिमा दिन विक्रमसंवत् तदनुसार ३१ जुलाई २०१५ अतिशयक्षेत्र बीनाबारह जी में तीन मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री संधानसागरजी, **२.** मुनि श्री संस्कारसागरजी, **३.** मुनि श्री ओंकारसागरजी।

वर्षायोग

मुनिदीक्षा ग्रहण करके श्री गुरु वर्षायोग में स्थित हो जाते हैं। उसका कुछ विवरण गुरुभक्ति से यहाँ करता हूँ। १९६८ ई० से प्रथम दो वर्षों में शिष्यरूप में ही गुरु के साथ राजस्थान अजमेर में दो वर्षायोग किए। उसके बाद दो वर्ष गुरुसेवा में अच्छी तरह तत्पर रहते हुए किशनगढ़ में दो

वर्षायोग हुए।

पाँचवा वर्षायोग भी गुरुचरणों में रहते हुए नसीराबाद में पंचम परमेष्ठी (मुनि अवस्था में ही) पद के साथ हुआ।

वीरनिर्वाणसंवत् २४९९ (१९७३ ई०) में व्यावर में आचार्य अवस्था में चातुर्मास हुआ। पुनः राजस्थान के अजमेर नगर में सप्तम वर्षायोग (१९७४ ई०) कुशलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

उत्तरप्रदेश प्रान्त के फिरोजाबाद में (१९७५ ई०) आठवाँ वर्षायोग हुआ। तत्पश्चात् मध्यप्रदेश के कुण्डलपुर अतिशय-सिद्धक्षेत्र में (१९७६-७७ ई०) नौवाँ, दशवाँ वर्षायोग हुआ। तत्पश्चात् ग्यारहवाँ (१९७८ ई०) वर्षायोग नैनागिरि में हुआ। बारहवाँ (१९७९ ई०)थूवौन जी में, तेरहवाँ (१९८० ई०) मुक्तागिरि में, चौदहवाँ (१९८१ ई०) नैनागिरि में, पंद्रहवाँ (१९८२ ई०) पुनः नैनागिरि में, सोलहवाँ (१९८३ ई०) ईसरी में, सत्रहवाँ (१९८४ ई०) जबलपुर मढ़ियाजी अतिशयक्षेत्र में, अठारहवाँ (१९८५ ई०) अतिशयक्षेत्र आहारजी (टीकमगढ़) में, उन्नीसवाँ (१९८६ ई०) पपौराजी में, बीसवाँ (१९८७ ई०) थूवौनजी में, इक्कीसवाँ (१९८८ ई०) पुनः जबलपुर मढ़ियाजी में, बाइसवाँ (१९८९ ई०) कुण्डलपुर में, तेइसवाँ व चौबीसवाँ (१९९०-९१ ई०) मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में, पच्चीसवाँ (१९९२ ई०) कुण्डलपुर में, छब्बीसवाँ व सत्ताईसवाँ (१९९३-९४ ई०) रामटेक में, पुनः अट्ठाईसवाँ (१९९५ ई०) कुण्डलपुर में, उन्तीसवाँ (१९९६ ई०) महुआजी में, तीसवाँ (१९९७ ई०) नव्य सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में, इकत्तीसवाँ (१९९८ ई०) भाग्योदयतीर्थ सागर में, बत्तीसवाँ (१९९९ ई०) गोम्मटगिरि इंदौर में, तैतीसवाँ (२००० ई०) सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक में, चौतीसवाँ (२००१ ई०) नवनिर्मित दयोदयतीर्थ तिलवाराघाट जबलपुर में, पैतीसवाँ (२००२ ई०) सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर, छत्तीसवाँ (२००३ ई०) सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक में, सैंतीसवाँ (२००४ ई०) पुनः दयोदयतीर्थक्षेत्र तिलवाराघाट जबलपुर, अड़तीसवाँ (२००५ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, उन्नतालीसवाँ (२००६ ई०) अमरकंटक में, चालीसवाँ (२००७ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, इकतालीसवाँ (२००८ ई०) रामटेकजी में, ब्यालीसवाँ (२००९ ई०) सवोदयतीर्थ अमरकंटक

में चौथा चातुर्मास, तैतालीसवाँ (२०१० ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, चवालीसवाँ व पैंतालीसवाँ (२०११-१२ ई०) चंद्रगिरि डोंगरगढ़ में, छ्यालीसवाँ (२०१३ ई०) रामटेकजी में, सैतालीसवाँ (२०१४ ई०) शीतलधाम विदिशा में, अड़तालीसवाँ (२०१५ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में सानन्द सम्पन्न हुआ, (२०१६ ई०) उनचांसवाँ चातुर्मास-भोपाल (राजधानी-म० प्र०)

पंचकल्याणक

श्रीगुरु के स्वमुख से उच्चरित मंत्रों के द्वारा पंचकल्याणकों के माध्यम से जो जिनबिम्ब प्रतिष्ठित हुए हैं उन-उन स्थानों का यहाँ वर्णन करते हैं।

विक्रमसंवत् २०३३ फाल्गुनशुक्ल सप्तमी से त्रयोदशी तक तदनुसार २५.०२.१९७७ से ०२.०३.१९७७ तक द्रोणगिरि शुभक्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०३४ फाल्गुनकृष्ण सप्तमी से पाँच दिन तक तदनुसार ०१.०३.१९७८ से ०६.०३.१९७८ तक बीनाबारह क्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०३५ फाल्गुनकृष्ण द्वितीया से सप्तमी तक तदनुसार २८.०२.१९७९ से ०५.०३.१९७९ तक मुरैना में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०३६ ज्येष्ठशुक्ल द्वितीया से पंचमी तक तदनुसार २७.०५.१९७९ से ३१.०५.१९७९ तक मदनगंजकिशनगढ़ में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०३८ पौषशुक्ल पूर्णिमा से माघकृष्ण षष्ठी तक तदनुसार २०.०१.१९८१ से २६.०१.१९८१ तक खजुराहो छतरपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०३८ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी से फाल्गुनशुक्ल द्वितीया तदनुसार २१.०२.१९८२ से २५.०२.१९८२ तक कुण्डलगिरि कोनीजी में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४१ माघशुक्ल एकम से पाँच दिन तक तदनुसार

२२ से २७ जनवरी, १९८५ तक शहपुरा भटौनी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४१ फाल्गुन कृष्ण तृतीया से पाँच दिन तक तदनुसार ८ से १४ फरवरी, १९८५ तक गंजबासौदा में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४२ फाल्गुनकृष्ण द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार ७ से ११ मार्च, १९८६ केसली (सागर) में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४३ माघशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार ८ से १२ फरवरी, १९८७ नैनागिरि क्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४५ माघशुक्ल द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार १७ से २२ फरवरी, १९८९ गोटेगाँव में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४६ मगशिरशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार ८ से १३ दिसम्बर, १९८९ सिरोंज (विदिशा) में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४६ फाल्गुनकृष्ण सप्तमी से पाँच दिन तदनुसार १७ से २२ फरवरी, १९९० नरसिंहपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४६ फाल्गुनशुक्ल अष्टमी से पाँच दिन तदनुसार ४ से ८ मार्च, १९९० पथरिया दमोह में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४६ कार्तिककृष्ण एकम से तीन दिवसीय तदनुसार ५ से ७ अक्टूबर, १९९० मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर (जिनबिम्बों के लेप के उपरान्त) लघु पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४७ माघशुक्ल दशमीं से पाँच दिन तदनुसार २५ से ३० जनवरी, १९९१ सिवनी में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४९ माघशुक्ल एकम से पाँच दिन तदनुसार २३ से २७ जनवरी, १९९३ शुभक्षेत्र मढ़ियाजी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४९ फाल्गुनकृष्ण चतुर्थी से पाँच दिन तक तदनुसार १० से १६ फरवरी, १९९३ देवरी सागर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०४९ फाल्गुकृष्ण चतुदर्शी से पाँच दिन तदनुसार २० से २६ फरवरी, १९९३ सागर में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५१९ भाद्रपद द्वितीया से चतुर्थी तक तदनुसार

१७ से १९ सितम्बर, १९९३ रामटेक नागपुर में (लेप के पश्चात्) लघु पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२२ मगशिरशुक्ल द्वितीया से तदनुसार ३ से ६ दिसम्बर, १९९५ बीनाबारह में (वज्रलेप के पश्चात्) लघु पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२३ माघकृष्ण चतुर्दशी से पाँच दिन तदनुसार ६ से १० फरवरी, १९९७ आहूरानगर सूरत में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२४ वैशाखशुक्ल तृतीया से पाँच दिन तदनुसार २९ अप्रैल से ७ मई, १९९८ सागर में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२६ माघशुक्ल नौमी से पाँच दिन तदनुसार १४ से २१ फरवरी, २००० करेली, मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२६ फाल्गुनकृष्ण अमावस्या से पाँच दिन तदनुसार ६ से १३ मार्च, २००० छिंदवाढ़ा, मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२७ फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशी से पाँच दिन तदनुसार २१ से २७ फरवरी, २००१ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२८ पौषशुक्ल द्वितीया से पाँच दिन तदनुसार १५ से २१ जनवरी, २००२ छपारा, मध्यप्रदेश में पंचकल्याण हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२८ माघशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार २२ से २७ फरवरी, २००२ बण्डा, जिला सागर में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२९ माघकृष्ण तृतीया से पाँच दिन तदनुसार २१ से २५ जनवरी, २००३ भोपाल में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५२९ माघशुक्ल द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार १४ से २१ फरवरी, २००३ भाग्योदय सागर में पंचकल्याणक हुए।

वीरनिर्वाणसंवत् २५३० माघकृष्ण त्रयोदशी से पाँच दिन तदनुसार २० से २५ जनवरी, २००४ विलासपुर में पंचकल्याणक हुए।

१७ से १९ जनवरी, २००६ कुण्डलपुर में बड़ेबाबा मूर्ति पुनःस्थापना के पश्चात् लघुपंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६३ माघशुक्ल सप्तमी से तदनुसार २५ जनवरी से

पंचकल्याणक महोत्सव के अद्भुत क्षण

१ फरवरी, २००७ शिवनगर कॉलोनी, जबलपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६३ फाल्गुनशुक्ल द्वितीया से तदनुसार १९ से २५ फरवरी, २००७ सागर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६३ फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमा से तदनुसार ४ से १० मार्च, २००७ पथरिया मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६४ पौषशुक्ल द्वादशी से तदनुसार २० से २७ जनवरी, २००८ बेगमगंज मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६४ माघशुक्ल पंचमी से तदनुसार ११ से १८ फरवरी, २००८ गंजबासौदा मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६५ चैत्रशुक्ल दशमी से तदनुसार १५ से २१ अप्रैल, २००८ विदिशा में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६५ मगशिरशुक्ल पंचमी से तदनुसार ३ से ९ दिसम्बर, २००८ नागपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६५ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी से तदनुसार २२ फरवरी से १ मार्च, २००९ तक मढ़ियाजी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६६ वैशाखशुक्ल अष्टमी से तदनुसार २ से ७ मई, २००९ सागर में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६६ मगशिरशुक्ल पंचमी से तदनुसार २२ से २९ नवम्बर, २००९ शहडोल में पंचकल्याणक हुए।

विक्रमसंवत् २०६६ माघकृष्ण अमावस्या से तदनुसार १५ से २१ जनवरी, २०१० सतना में पंचकल्याणक हुए।

वीर निर्वाण संवत् २५३६ मगशिरकृष्ण एकम् से तदनुसार २२ से २७ नवम्बर, २०१० महाराजपुर सागर में पंचकल्याणक हुए।

वीर निर्वाण संवत् २५३८ माघशुक्ल एकम् से तदनुसार २४ से २९ जनवरी, २०१२ दुर्ग छत्तीसगढ़ में पंचकल्याणक हुए।

वीर निर्वाण संवत् २५३८ फाल्गुनशुक्ल चतुर्थी से तदनुसार २५ फरवरी से २ मार्च, २०१२ रामटेक नागपुर में पंचकल्याणक हुए।

पौष कृष्णा दसमी से पौष शुक्ला चतुर्थी तक ई० सन् २०१५ में १६

से २४ जनवरी तक खातेगाँव में पंचकल्याणक हुए।

उसी सन् २०१५ में चैत्र कृष्णा एकम् से चैत्र शुक्ल की सप्तमी तक ६ मार्च से १२ मार्च तक गौरझामर गाँव में जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई।

उसी सन् २०१५ में कार्तिक कृष्णा पंचमी से कार्तिक कृष्णा दसमी तक ३०.११.२०१५ से ६.१२.२०१५ गढ़ाकोटा ग्राम में जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई।

मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी से मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया तक उसी सन् २०१५ में ८ से १४ दिसम्बर में रहली ग्राम में जिनबिम्ब महोत्सव हुआ।

पौष शुक्ल षष्ठी से पाँच दिन तक तारादेही ग्राम में ईस्वी सन् २०१६ में १५ जनवरी से २१ जनवरी तक पंचकल्याणक हुआ।

फाल्गुन शुक्ला नवमी से पूर्णिमा तिथि तक उसी सन् २०१६ में १७ से २३ मार्च तक कटंगी में पंचकल्याणक हुए।

भोपाल (भानपुरा) में वीरनिर्वाण संवत् २५४३ मार्गशीर्ष कृष्ण मास में अमावस्या तिथि से पाँच दिन तक तदनुसार २९ नवम्बर से ५ दिसम्बर २०१६ को पंचकल्याणक हुए।

माघ कृष्णा प्रतिपदा की शुभतिथि से पाँच दिन तक सिलवानी नगरी में वीर निर्वाण संवत् २५४३ तदनुसार १३ जनवरी से १८ जनवरी २०१७ को पंचकल्याणक हुए।

पुनः माघ मास के शुक्ल पक्ष में सप्तमी से पाँच दिन तक टड़ा ग्राम में वीर निर्वाण संवत् २५४३ तदनुसार ३ फरवरी से ८ फरवरी २०१७ को पंचकल्याणक हुए।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामक महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला महाप्रभावक संज्ञक बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑